

INTERNATIONAL PEER REVIEWED(REFREED) JOURNAL

RNI:Sahitya Megh/2021/80567

साहित्य मेघ

sahityamegh.com

सम्पादक मण्डल

भारत

- प्रो. ओमप्रकाश सिंह,**
(९८९९४४६८६९)
(विभागाध्यक्ष जे.एन.यू.)
- प्रो. कृपाशंकर पाण्डेय**
(९९८४५२३७०६)
(विभागाध्यक्ष, इला.यू.)
- प्रो. मोहन**
(९८७९९९५५००)
(दिल्ली विश्वविद्यालय)
- प्रो. चन्द्रदेव यादव,**(९८९८९५८७४५)
(जामिया मिल्लिया इस्लामिया)
- प्रो.लालचंद राम,**९९९००७०८९५
विभागाध्यक्ष,एन सी ई आर टी
- प्रो.चंदा देवी,**(८००४९२८४४९)
(इला. यू.)
- प्रो. रामकली सराफ**
(९३८९४३२९६५)
(विभागाध्यक्ष बी.एच.यू.)
- प्रो. शत्रुघ्न कुमार**
(९८९९२४३४२३) (झू)
- प्रो.राम आहलाद चौधरी**
(९४३२०५९५००)
(विभागाध्यक्ष कलकत्ता विश्वविद्यालय)
- प्रो. रूबी जुत्शी**
(९४९९०५८५८५)
(विभागाध्यक्ष जम्मू कश्मीर)
- प्रो. गजेन्द्र कुमार पाठक**
(८९९८९२९३५)
(विभागाध्यक्ष हैदराबाद यू.)

विदेश

- प्रो. सरन घई**
(±९ (६४७) ९९३-०३३०)
कनाडा
- प्रो. पुष्पिता अवस्थी**
(±९९ ७०५८४-६२९५९)
(www.pushpitaawasthi.com)
नीदरलैंड
- डॉ. सुरेश चंद्र शुक्ल**
'शरद आलोक'
(±४७ ९००७०३९८)
(speil.nett@gmail.com)
नॉर्वे
- अनुराग शर्मा**
(±९ (४९२) ६९२-९३६२)
(indiasmart@gmail.com)
अमेरिका
- रेखा राजवंशी**
(±६९ ४०३९९६३०९)
ऑस्ट्रेलिया
- प्रो.उल्फत मुखीबोवा**
+998946443037
TASHKAND(रूस)

परामर्श मण्डल

देश-विदेश

- डॉ. प्रताप सहगल**
(९८९०६३८५६३)
(भारत)
- प्रो. अब्दुल बिस्मिल्लाह**
(९८९९३०६३३९)
(भारत)
- डॉ.शशि सहगल**
(९८९९६६९२९)
(भारत)
- तेजेन्द्र शर्मा**
(४४ ७४००३९३४३३)
(यू.के.)

साहित्य मेघ

फरवरी २०२२

डॉ. दानिश (९६९६४८६३८६)

प्रधान संपादक

डॉ. तबस्सुम जहां (९८७३९०४९९०)

सह-संपादक (अवैतनिक)

वर्ष: २, अंक: २

एक प्रति : १५०/-, वार्षिक : १५००/-

BANK DETAIL : A/C 302702010058980

IFSC CODE : UBIN0530371

MOHD SALEEM UNION BANK,

CIVIL LINES, PRAYAGRAJ (ALLAHABAD), INDIA

डॉ. राजविंदर कौर (९७५९९९२४३४)

सह-संपादक (अवैतनिक)

श्रीमती एस. के. 'सुमन'

आर्थिक सलाहकार

sahityamegh.com

sahityamegh@gmail.com

व्हाट्सएप नं. : ९९९९९४२४९९

फोन : ९६९६४८६३८६

४८३, अटाला, प्रयागराज (इलाहाबाद) २११ ००३

सम्पादक मण्डल, परामर्श मण्डल	१
ज़रूरी बातें	डॉ. दानिश ३
मेरे देश की मिट्टी, अहा	मृदुला गर्ग ६
कविता अपने समय की परिभाषा भी है	विजय बहादुर सिंह १३
कविताएँ	शमीम ज़हरा १५
कविताएँ (संदर्भ: घर)	शशि सहगल १७
ऐ बनारस निसार तेरी गलियों के..	भूमिका द्विवेदी अश्क १९
हिन्दी लोकगीत की परंपरा	चन्द्रदेव यादव २०
गज़ल	हरिशंकर राढ़ी ३४
सुलगता है तेरी यादों का बन	डॉ. रंजन ज़ैदी ३५
कबीर साहित्य का समाज-दर्शन	रामकली सराफ ३९
असाध्यवीणा: 'टेमिंग ऑफ द हार्प' के बहाने	दिलीप शाक्य ४२
भाषाई राजनीति बनाम बिहार में हिन्दी: वाद और विवाद	डॉ. अजय कुमार ४५
वो एक खुदकुशी	गिरीश पंकज ४८
मेरे भगवान	रणविजय ५५
मोस्को-आकाश की पत्तियों से चन्द बातें करता शहर	हरिसुमन बिष्ट ६०
राष्ट्र के नैतिक उत्थान में मोबाइल का योगदान	राजेन्द्र सहगल ६८
पांडेय जी की किताबें और उसका लोकार्पण	लालित्य ललित ७१
हिन्दी सिनेमा से गायब होते गांव	चंदन श्रीवास्तव ७६
अज्ञेय की कहानियों में स्त्री संवेदना	शोभा साव ८१
गाँवों का विसंगति-बोध यानी 'पिता का शोकगीत'	डॉ. सरोज कुमारी ८३
गिलिगडु - बदलते जीवन मूल्य और वृद्ध समाज	डॉ. अंजली जोशी ८७
अपने निज की तलाश करते लोग	डॉ. तबस्सुम जहां ९१
इक्कीसवीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में ग्रामीण स्त्री	मोहसिना बानो ९४
आईना	हमारे सम्मानीय पाठक ९८

जरूरी बातें

डॉ. दानिश

इधर कुछ वर्षों में इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने जो अंगड़ाई ली है, यह कल्पना में भी नहीं थी। आने वाले समय में उसकी उड़ान और कितनी गतिमान हो जाएगी, इसका भी अंदाजा लगाना मुश्किल है। फिर भी मुद्रित माध्यम (प्रिंट मीडिया) की अहमियत न खत्म हुई है, न होगी। प्रिंट मीडिया का अपना एक अलग वजूद है, इसकी उपयोगिता कई अर्थों में सर्वोपरि भी है। प्रिंट मीडिया का बने रहना साहित्य एवं समाज के हित में है।

यह सर्वविदित है कि साहित्य समाज का दर्पण होता है। फिल्म का भी साहित्य से अटूट और निराला रिश्ता है। साहित्य की विधा गीत फिल्म की कहानी को आगे बढ़ाते हैं, तो अक्सर केवल गीतों के माध्यम से मुर्दा फिल्मों में भी जी उठी हैं। गीत अच्छा न होने बावजूद जिन पार्श्व गायकों के सुर की बदौलत गीतों को प्रसिद्धि मिली, फिल्मों हिट हो गईं, उनमें एक बड़ा नाम, बल्कि सबसे बड़ा नाम स्वर कोकिला, सुर साम्रज्ञी भारत रत्न लता मंगेशकर का है। रविवार ६ फरवरी २०२२ को लता दीदी हम सबको छोड़कर स्वर्ग में जा बसीं। मैं यह बात नहीं लिखूंगा कि ईश्वर उनकी आत्मा को शांति दे। लता जी ने न जाने कितने तड़पते हुए दिलों को शांति प्रदान की है। अतः ईश्वर खुद ही से उनकी आत्मा को शांति देगा और उन्हें स्वर्ग में उच्च स्थान पर आसीन करेगा।

उर्दू शब्दों की भरमार की वजह से हिंदी ग़ज़ल का हाल यह है कि उसके अधिकांश अशआर उर्दू ग़ज़ल के समुंदर में गरकाब हो जाते हैं। दुष्यंत कुमार की गजलों के अधिकांश शेरों का यही रंग है। हमें डूबकी लगाना है, डूबना नहीं है। हम चाहते हैं कि हिंदी ग़ज़ल अपना एक अलग मुकाम बनाए। हम ग़ज़ल को हिंदी ग़ज़ल के रूप में स्थापित करना चाहते हैं। इसके लिए बहुत परिश्रम की भी आवश्यकता नहीं है, बस थोड़ा सा ध्यान देने की जरूरत है। हिंदी ग़ज़ल कहने के लिए हर शेर में हिंदी के तीन या चार ऐसे शब्दों को शामिल करें जिनसे आमतौर पर उर्दू

वाले परहेज करते हैं। मेरा एक शेर है-

उलझ गए हैं सभी उसके शब्दजालों में
समझ रहे थे जिसे पाठशाला का बालक

तीन शब्दः

नंबर १ शब्दजालों

नंबर २ पाठशाला

नंबर ३ बालक

इन तीन शब्दों ने इस शेर को हिंदी शेर बना दिया है।

शेर को हिंदी शेर या उर्दू शेर कहने पर कुछ लोगों को ऐतराज होगा, जो सही नहीं है। हिंदी उर्दू दोनों का साहित्य अलग है। हिंदी उर्दू के बारे में उर्दू के महान आलोचक प्रोफेसर ज्ञान चंद जैन की बड़ी मशहूर किताब है "एक भाषा दो लिखावट दो अदब"। जब उर्दू दोहा हो सकता है तो हिंदी ग़ज़ल क्यों नहीं हो सकती।

हिंदी साहित्य की विधा दोहा को उर्दू वालों ने अपना लिया है और वो लोग इसे बड़ी शान से उर्दू दोहा कहते हैं। उर्दू दोहा में हिंदी शब्द तो होते ही हैं। उर्दू शब्दों की भी अच्छी खासी तादाद होती है। ये तरीका भी हिंदी ग़ज़ल के लिए बहुत काम का होगा।

दोहा की तरह गीत भी तो हिंदी साहित्य की विधा है और गीत को भी उर्दू वालों ने अपना बनाने की पूरी कोशिश की है।

हिंदी ग़ज़ल को अपनी अलग पहिचान दिलाने के लिये हम सब को मिल कर कोशिश करनी चाहिए, भले ही हमारे तरीके अलग-अलग ही क्यों न हों। हिंदी ग़ज़ल कहना हिंदी साहित्य के हक में होगा। ●●

हिंदी ग़ज़ल के लिए पृष्ठ ३४ देखें

विशेष समाचार

प्रेस विज्ञप्ति

साहित्य अकादेमी के साहित्योत्सव २०२२ का चौथा दिन

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम पर साहित्य का प्रभाव विषयक राष्ट्रीय संगोष्ठी का शुभारंभ
स्वाधीनता ही साहित्य का आधार और स्वप्न है - विश्वनाथ प्रसाद तिवारी
भारतीय भाषाओं में फैंटेसी और साइंस फिक्शन लेखन विषयक परिसंवाद संपन्न
जगदुरु रामानंदाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य को महत्तर सदस्यता अर्पित

नई दिल्ली। १३ मार्च २०२२; साहित्य अकादेमी के साहित्योत्सव के चौथे दिन का मुख्य आकर्षण तीन दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का शुभारंभ था, जो 'भारतीय स्वतंत्रता संग्राम पर साहित्य का प्रभाव' विषय पर केंद्रित है। संगोष्ठी का उद्घाटन वक्तव्य देते हुए प्रख्यात हिंदी कवि, समालोचक एवं अकादेमी के महत्तर सदस्य विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने कहा कि स्वाधीनता मानवीय शब्दकोश का सबसे पवित्र शब्द है। उसकी चेतना, मनुष्य ही नहीं जीव मात्र में नैसर्गिक रूप से विद्यमान होती है। वह मनुष्य का चरम मूल्य है। दुनिया भर के मनुष्य ने स्वाधीनता के लिए जितने बलिदान दिए हैं, शायद ही किसी अन्य मूल्य के लिए दिए हों। स्वाधीनता ही साहित्य का भी आधार और स्वप्न है। दुनिया का अधिकांश साहित्य उसी की अभिव्यक्ति है। आगे उन्होंने कहा कि राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के साथ-साथ जो साहित्य लिखा जा रहा था, वह अधिकांशतः उससे प्रभावित भी था और उसे प्रभावित भी कर रहा था। हिंदी में जिसे छायावाद काल कहा जाता है उसे 'सत्याग्रह युग' भी कहा गया है। अपनी बात आगे बढ़ाते हुए उन्होंने कहा कि हिंदी ही नहीं, उस समय का संपूर्ण भारतीय साहित्य स्वाधीनता की चेतना से आंदोलित था और उसे प्रेरित तथा गतिशील कर रहा था।

साहित्य अकादेमी के अध्यक्ष चंद्रशेखर कंबार ने अपने वक्तव्य में कहा कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का आंदोलन पूरी दुनिया से अलग और अनोखा था क्योंकि इसमें कोई सेना शामिल नहीं थी बल्कि यहाँ की आम जनता और साधु संतों से लेकर सभी शामिल थे। उन्होंने वाचिक साहित्य द्वारा अपनी बात दूर-दूर तक पहुँचाई और साहित्यकारों ने अपनी वाणी से इस आंदोलन को आगे बढ़ाने के लिए अपने शब्दों से प्रेरित किया। साहित्य अकादेमी के उपाध्यक्ष माधव कौशिक ने कहा कि लेखकों का काम देश को आजादी दिलाने के बाद भी खत्म नहीं हुआ बल्कि अब परिदृश्य और जटिल हुआ है तथा लेखकों को ज़्यादा संघर्ष करने की ज़रूरत है। आज संगोष्ठी में तीन अन्य सत्र नंदकिशोर आचार्य, दामोदर मावज़ो और चंद्रकांत पाटिल की अध्यक्षता में संपन्न हुए।

इसी दिन अपराह्न २.३० बजे १९४७ के बाद 'भारतीय भाषाओं में फैंटेसी और साइंस फिक्शन लेखन' विषयक परिसंवाद का आयोजन हुआ, जिसमें देवेन्द्र मेवाड़ी ने उद्घाटन वक्तव्य देते हुए कहा कि आज साहित्य एवं विज्ञान नज़दीक आ रहे हैं। आगामी समय विज्ञान-साहित्य का होगा। उन्होंने कहा कि आजादी के बाद से फैंटेसी और विज्ञान कथा-साहित्य बहुत तेज़ी से लिखा जा रहा है। साहित्य की मूलधारा के लेखकों ने भी विज्ञान कथा-साहित्य का लेखन किया है। परिसंवाद के विचार सत्र की अध्यक्षता कश्मीरी लेखक ज़मां आजुर्दा ने की तथा रजत चौधुरी (अंग्रेज़ी), जोसेफ तुसकानो (मराठी), कमलाकांत जेना (ओड़िआ), जर्नादिन हेगडे (संस्कृत) और इरा. नटरासन (तमिळ) ने अपने आलेख प्रस्तुत किए।

आज प्रख्यात संस्कृत विद्वान, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक गुरु जगदुरु रामानंदाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य को साहित्य अकादेमी के सर्वोच्च सम्मान-महत्तर सदस्यता से सम्मानित किया गया। स्वामी जी के साथ संवाद सत्र के अंतर्गत साहित्य अकादेमी के संस्कृत परामर्श मंडल के संयोजक अभिराज राजेंद्र मिश्र, रमाकांत शुक्ल एवं रामसलाही द्विवेदी ने संवाद किया।

--
Ajay Kumar Sharma
Assistant Editor
Sahitya Akademi, New Delhi
Mob. : 9868228620

वेदव्यास सम्मान ममता कालिया को

इंडिया नेटबुक्स परिवार द्वारा आयोजित वार्षिक साहित्य सम्मान समारोह में देश और विदेश के कई साहित्यकारों को भी सम्मानित किया गया।

विगत शनिवार, ५ मार्च को नई दिल्ली स्थित हिंदी भवन के सभागार में इंडिया नेटबुक्स और बीपी फाउंडेशन द्वारा आयोजित वार्षिक साहित्य सम्मान समारोह में वरिष्ठ साहित्यकार ममता कालिया को उनके समग्र साहित्य के लिए 'वेद व्यास सम्मान' से सम्मानित किया गया।

इस अवसर पर साहित्य, कला, संस्कृति, शिक्षा, समाज सेवा सहित अन्य क्षेत्रों में सक्रिय कुल २८ लोगों को पुरस्कार प्रदान किया गया जिनमें वरिष्ठ साहित्यकार ममता कालिया से लेकर बाल साहित्यकार तन्वी कुंद्रा शामिल हैं।

इस अवसर पर सभागार में बड़ी संख्या में उपस्थित लोगों को संबोधित करते हुए ममता कालिया जी ने कहा कि संजीव कुमार जी बहुत ही सराहनीय कार्य कर रहे हैं। हमें यदि अच्छा समाज बनाना है, निर्भय समाज बनाना है तो साहित्यकार को भी अपनी दृष्टि चौड़ी करनी चाहिए। उन्होंने कहा कि हिंदी में बहुत अच्छा लिखा जा रहा है, लेकिन उसका सही अनुवाद विश्व के अन्य देशों तक नहीं पहुंच पा रहा है। इसीलिए हमारे लेखन से विश्व परिचित नहीं है। हमें स्तरीय अनुवाद पर भी जोर देना चाहिए ताकि बड़े पैमाने पर हिंदी साहित्य की पहुंच बने।

वरिष्ठ साहित्यकार शशि सहगल जी ने कहा कि डॉ संजीव स्वयं एक संवेदनशील कवि हैं और उन्होंने साहित्यकारों को अपने संस्थान से जोड़ने का बड़ा काम किया है।

वरिष्ठ व्यंग्यकार डॉ प्रेम जनमेजय ने कहा कि सम्मान जब अपने को मिलता है तो बड़ा अच्छा लगता है और जब किसी और को मिलता है तो जुगाड़ लगता है।

वरिष्ठ साहित्यकार डॉ प्रताप सहगल ने सभागार को संबोधित करते हुए कहा कि पुरस्कार शब्द बड़ा भ्रामक है। इसे सम्मान कहना चाहिए। उन्होंने कहा कि एक लेखक का 'रेबेल' होना जरूरी है। लेखक अनुपस्थिति की खोज करता है। गीता पर यदि सवाल नहीं कर सकते तो यह लेखक के लिए चुनौती है। साहित्य मनुष्य की खोज करता है, वह ईश्वर की खोज नहीं करता। उन्होंने कहा कि जहां धार्मिक किताबों की सीमा समाप्त होती है, साहित्य और साहित्यकार का काम वहां से शुरू होता है। अंतर्मन में झांकना ही साहित्य है।

बीपीएल फाउंडेशन की निदेशक कामिनी मिश्रा ने भी एक लघुकथा के माध्यम से अपनी बात रखी। घर परिवार के पीछे छूटते पर चिंता जाहिर की

कार्यक्रम का जीवंत और शानदार संचालन किया लोकप्रिय कवि और व्यंग्यकार डॉ लालित्य ललित ने। उन्होंने कहा कि किसी निजी संस्थान द्वारा देश-विदेश के २८ साहित्यकारों को एक साथ इतने बड़े पैमाने पर सम्मानित करना बहुत बड़ी बात है।

कार्यक्रम के आरंभ में इंडिया नेटबुक्स परिवार के निदेशक डॉ संजीव कुमार ने प्रकाशन संस्थान एवं अन्य अनुषंगी संस्थानों की गतिविधियों का विस्तार से परिचय दिया। उन्होंने

कहा कि अब इंडिया नेटबुक्स ग्लोबली उपलब्ध है और प्रवासी भारतीयों के साहित्य का भी प्रकाशन कर रही है। सामाजिक क्षेत्र में बीपीएल फाउंडेशन की गतिविधियों के बारे में भी उन्होंने जानकारी दी। उन्होंने यह भी कहा कि कोरोना जैसी भयावह आपदा के विकट समय में भी हमने काम किया और बेहद अल्प समय में अब तक ५५० टाइल प्रकाशित किया।

इस मौके पर वर्ष २०२१-२०२२ के लिए सम्मान प्रदान किये गए। वेद व्यास सम्मान वरिष्ठ साहित्यकार ममता कालिया को उनके समग्र साहित्य के लिए दिया गया। भगवती प्रसाद अवस्थी साहित्य रत्न सम्मान २०२१-२०२२ के लिए श्री फ़ारुख़ आफरीदी एवं दिलीप तेतरबे को दिया गया।

शिव प्यारी देवी अवस्थी साहित्य रत्न सम्मान २०२१-२०२२ डॉ. शशि सहगल एवं मीनाक्षी गोयल को दिया गया। कालीचरण मिश्र अनुवाद रत्न सम्मान नीरज दइया एवं रजनी छाबड़ा को तथा राजीव अवस्थी बाल रचनाकार सम्मान तन्वी कुंद्रा को दिया गया।

जनक दुलारी मिश्र कलावत सम्मान पेंटिंग से जुड़ी निर्मला सिंह एवं नाट्यकला की विशेषज्ञ उमा झुनझुनवाला को दिया गया।

व्यंग्य यात्रा-सियाराम अवस्थी व्यंग्य रत्न रचना सम्मान के लिए सुशांत सुप्रिय को जबकि व्यंग्य यात्रा-पुष्पा देवी अवस्थी व्यंग्य रत्न आलोचना सम्मान प्रसिद्ध व्यंग्य आलोचक विनोद शाही को दिया गया।

भागीरथी देवी अवस्थी युवा रचनाकार सम्मान चंद्रकांता, राजेश्वरी मंडोरा, सोनीलक्ष्मी राव, दीपक सरीन एवं सुरेश कुमार मिश्रा को प्रदान किया गया।

इसके साथ ही अनुस्वार रत्न सम्मान रणविजय राव, स्नेहा देव, दीपक सरीन, सुरेश कुमार मिश्रा, डॉ. दुर्गा सिन्हा, मेधा झा, दीपा स्वामीनाथन, मधूलिका और नितिन उपाध्ये को दिया गया।

इसी प्रकार बी.पी.ए समाज रत्न सम्मान रीता बेंजामिन, नैना वेद, कुसुम दत्ता, संदीप तिवारी एवं सोमनाथ यादव को दिया गया।

इंडिया नेटबुक्स परिवार में बी.पी.ए फाउंडेशन (उध) ज्यूरिस ग्लोबल लॉ फर्म, बी.पी.ए एडवाइजरी लिमिटेड एवं अनुस्वार पत्रिका शामिल है।

ये सम्मान प्रतिवर्ष दिए जाते हैं और कुछ नए सम्मान डॉ. संजीव के प्रस्तावों के अधीन २०२२ से शुरू किए गए हैं।

कार्यक्रम का समापन इंडिया नेटबुक्स की सीईओ डॉ मनोरमा के धन्यवाद ज्ञापन से हुआ। उन्होंने विशिष्ट अतिथियों एवं सम्मान ग्रहण करने के लिए अलग-अलग राज्यों से आए साहित्यकारों एवं सभागार में बड़ी संख्या उपस्थित लोगों के प्रति आभार प्रकट किया।

(रिपोर्ट - रणविजय राव)

मेरे देश की मिट्टी, अहा

मृदुला गर्ग

हवा ठंडी नहीं थी, ना साफ़। धूल-मिट्टी से भरी थी। फिर भी खाट पर लेटी लल्ली को भली लग रही थी। इसलिए कि उसमें धुआँ नहीं था। उसने लंबा कष भर कर हवा भीतर खींची। बे-धुआँ हवा में साँस लेना, कितना सुख है, उसने गाँव खेड़ी में आकर जाना। धुआँ छोड़ती अंगीठी से अलग होकर, खुले आकाश के नीचे बैठने की औकात, यहाँ आने पर जो हुई।

गाँव उसके लिए नया न्यारा नहीं है। गाँव में पैदा हुई और शुरु के छह-सात बरस वहीं रही। फरीदपुर नाम था उसके गाँव का। दादी लकड़ी पर चूल्हा करती थी। गीली होती तो धुआँ खूब उठता। कुछ देर साँस लेनी मुश्किल हो जाती, पर साथ में जो बास आती, बड़ी मनभावन होती। एक साथ दूर फेंकती और पास खींचती। बहुत लुभाऊ होती है ऐसी बास। दादी के हुक्के में से भी बड़ी मोहिनी गंध आती थी और धुआँ बस ज़राम-रा चिलम सुलगाते वक्त; बीड़ी की तरह नहीं कि पिये काँ और कसैलापन भुगते काँ।

जैस शहर में। हुक्का वहाँ काँ नहीं पीता था। बीड़ी खूब। पर लाख बीड़ियाँ मिलकर भी उतना धुआँ नहीं पैदा करतीं, जितना वहाँ के ट्रक बस, स्कूटर, पल भर में छोड़ देते थे। छोड़ते चले जाते थे। धुआँ भी ऐसा कसांध भरा कि दीखे चाहे नहीं, छाती में हरदम अँटा-फँसा रहे। मानो बीसियों बीड़ियाँ पी चुके हों औरत-मर्द। यूँ सच में काँ औरत बीड़ी पीती दिख जाये तो फौरन उसे छिनाल बतला दें।

उसने अँगड़ाई लेकर हाथ-पैर खोलकर पसारे और एक कश और खींचा। बदबू का इतना जबरदस्त भभका नाक में घुसा कि उबकाई आ गयी। वह उठ कर बैठ गयी। क्या हुआ, नौद से पहले सपना आ गया? बीते बचपने का? उसने च्यूटी काटी। न, वह जगी थी। पर बदबू थी कि आये जा रही थी। जलते चमड़े की चमरौंध। जैसी बचपन में गाँव के चमार टोले से आती थी। वहीं तो रहती थी वह। चमार टोले में नहीं, उससे सटी झोपड़ी में। जात से वह बनिया थी।

वह और उसकी दादी परिवार में यहीं दो जन थे। माँ-बाप तो खैर रहे ही होंगे, नहीं तो वह जनमती कैसे, पर कब थे, कब नहीं रहे, होष नहीं था। दादी उनका किस्सा कम कहती, खेत-द्वार लुटने का ज्यादा। 'अपने गाँव के अपनों ने ही लूटा हमें लल्ली, अकेली जानकर क्या-क्या प्रपंच ना किये। क्या महाजन, क्या ठाकुर-पंडित सब एक जैस सियार

निकले। जो था रहन रखवाया, झूठ-सच मिलाकर लूटा। बचे हम दो, तू और मैं। बस्ती के आखीर में यह कल्हड़ बचा था। जिस पर न बोया जाये न चरा, सो यहाँ झोपड़ी डाल ली। एक तो ऊसर-ऊपर से बाल में चमार टोला, इस कारण समझ कि बनियों-बामनों की लार इस पर ना टपकी और हम बचे रहे। नहीं तो लल्ली, पाँव तले धरती हड़पने को, बदन का चाम भी खींच ले जाते हमारा?' लल्ली के बदन के रोंगटे खड़े हो जाते। चाम खींचना क्या होता है, वह अच्छी तरह जानती थी। पर जब तक दूसरे जिनावरों का खिंचे, उनकी खुशहाली में फर्क नहीं आता था। असल में चमार खुशहाल तो दादी खुश। उसके हुनर के वे ही गाहक थे। दूसरों के खेतों में बुवाई-कटाई के अलावा, दादी के पास पैसा कमाने को, दो हुनर थे। पुरानी रूई को धुन-धुना कर ऐसी टिकाऊ बंडियाँ सीती कि एक छोड़, दो शीत गुज़ार लो। और चिकनी मिट्टी के वह मनभावन खिलौने बनाती, वह लुभावना रंग उन पर फेरती थी कि, शहर के हाट में पहली खेप में बेच लो। चमार टोले के लड़के शहर ले जाकर बेच आते तो उनकी और दादी, दोनह की कमाई हो जाती। गाँव का ऊँचा तबका घना नाराज रहता। बिनया होकर चमार टोले की कांख में रहने गयी। ऊपर से उनकी टहल करके कमाई की। मरे पीछे नरक में जगह मिल गयी तो बहुत समझना। अधर में लटकी रहेगी बुढ़िया। लड़की बड़ी हो ले तो दखे लेंगे। धर्म के नाम पर बुढ़िया के चंगुल से बाहर निकालनी होगी-ही-होगी।

पर बुढ़िया खासी चंट निकली। लड़की के बड़े होने से पहले, भगवान को प्यारी हो गयी। यही नहीं मरने से पहले कल्हड़ भी बेच गयी। गुड़गाँव शहर के वासी, अपने दूरके रिश्तेदार को। एकदम पुख्ता लिखा-पढ़ी के साथ। बुढ़िया मरी पीछे, वह पहले गाँव आ पहुँचा, दो-दो कारिदों को साथ लिये। जरूर किसी चमार ने खबर पहुँचायी होगी।

गाँव में कुलबुल भतेरी रही पर शहरी बाबू कागज़-पत्तर से चौकस निकले। चौथा होते ही लल्ली को ले, शहर रवाना हो गये। कारिदे छोड़ गये, जिन्होंने साल पूरा होने से पहले, वहाँ जानवरों की हड्डियों से खाद बनाने का कारखाना खुलवा दिया। चमार टोले की मौज हो गयी। जानवरों की खाल उतारो अलग और कारखानों में काम पाओ अलग। कारखाना बदबू के भभकारे छोड़े तो छोड़े, चमार एतराज करने से रहे।

दूर-दराज रहने वाले ठाकुर-बिनये गये ज़रूर, एम.एल.ए. के पास, पर उन्होंने खटमल-सा अलग झटक दिया। उन दिनों गाँव की प्रेगित का नारा जोरों पर था। प्रेगित माने वोट, गुड़गाँव में रिश्ते के ताऊ-ताई हँस कर कहा करते। चमारों में वोट डालने का नया-नया चलन हुआ है, सो प्रेगित अब उनके खीसे में है।

लल्ली एक बार गुड़गाँव क्या पहुँची, फिर कभी गाँव देखने को न मिला। जो जाना, ताऊ-ताई के महुँ से सुनकर। वैसे उनके घर रहना उतना बुरा भी न था। अब दादी की नाई प्यारम-नुहार तो ताई करने से रही थी। न सजा-सँवार कर उसे शहरी मेम बनाने वाली थी। पर इतना ज़रूर किया कि सात साल की धींगड़ी को स्कूल में दाखिला दिलवा दिया और डॉट-डपट, मार-पीट कर, बारहवीं पास करवा दी। घर का कामकाज तो खैर किस ग़रीब रिश्तेदारिन को नहीं करना पड़ता। पर भूखा-प्यासा कभी न रहना पड़ा उसे, न कभी बेभाव की मार खानी पड़ी। वह सब हुआ होता तो मुसलमान के साथ भागने पर लोग, उससे हमदर्दी कर सकते थे। अब तो कुलटा ही कहना था सबने, सो वही कहा।

हुआ यूँ कि इधर बारहवीं पास लल्ली की उम्र बीस पर पहुँची, उधर, घर की ब्याहता बेटी स्वर्ग सिधार गयी। लल्ली से कोई सोलहेक बरस बड़ी रही होगी। बारह और चौदह बरस के दो मासूम बेटों को पीछे छोड़ गयी और पति बेचारे की उम्र कुल पैंतालीस। दूसरी शादी तो तुरत-फुरत होनी ही थी पर ताऊ-ताई को फिक्र यह लगी कि सौतेली माँ, जो आयेगी, बेटों का ख्याल रखेगी भी कि नहीं? सो पुरानी परंपरा का सहारा ले तेरहवीं होते ही, लल्ली से जमाता का रोकना कर दिया। तय हुआ कि तीन महीने के भीतर, जी कड़ा करके, बच्चों की खातिर, बुझे मन बेरौनक शादी की रस्म पूरी कर दी जायेगी। लल्ली को बुरा नहीं लगा। जीजा खासा हट्टा-कट्टा और खाता-पीता था। रोबीला, पुलसिया हवलदार। अथड़े था या जवान, उस बारे में उसने सोचा ही नहीं। वह क्या जानती, जवानी क्या होती है। गाँव में थी तो सात साल की लड़की को गाँव वाले भले धींगड़ी कहते रहे हों, वह दादी की गोद की बच्ची बनी रही थी। उसकी बनायी बंडियों में से सबसे बिढ़या पहनती, उसके गढ़े खलौनों से खेलती, उससे चिपट कर सोती, नन्हीं लल्ली।

शहर आयी तो स्कूल और घर के काम के बीच इतना वक्त ही नहीं मिला कि जवानी के बारे में सोचे। घर में रहने वाले ताऊ-ताई दादी से कुछ ही कम बूढ़े थे। स्कूल में पढ़ने वाली लड़कियाँ जवान ज़रूर हो रही थी, पर उनसे ज्यादा बोलने-बितयाने की फुरसत उसे नहीं थी। उस पर जवानी आयी तो इतनी बेदस्तक कि कपड़ों पर खनू के अलावा, कोई निशान नहीं छोड़ा। जवानी के नाम पर जो देखा, इन्हीं जीजा-जीजी का बच्चों समते, घर में आना-जाना था। वह

भी दूर-दूर से। उनके आने पर रसोई का काम इतना बढ़ जाता कि मुष्किल से उनकी सूरत नज़र आती। वह भी कभी-कभार। फिर भी घर में उत्सव-सा छाया रहता, जिसका उत्साह उसे भी छू जाता। अब, बिना जीजी का जीजा, उसी उत्सवी माहौल को अपने में समेटे, उसके दिलोंदिमाग में उतरा। शादी की बाबत उसकी राय किसी ने नहीं पूछी पर रस्में होनी शुरू हुई तो पता चल गया कि उसकी मगनी हो रही है। बिना बतलाये यह भी जान लिया कि वह जवान हो गयी।

सब कुछ आराम-तसल्ली से निबट लेता अगर तभी संयोग से, जीजावर का तबादला, गुड़गाँव का न हो जाता। जाहिर था कि अपना क्वार्टर मिलने तक, उसका पड़ाव भूतपूर्व और भावी ससुराल में हुआ। होने वाली बीवी के नाते, खाना पका-खिला लेने पर लल्ली को बैठक में बुलाया जाने लगा। जिस पुलसिया को तब तक देखा-भर था, अब दरे तक सुनना भी पड़ा। बोलता वह खबू था। अकेला और दरे तक। बातों का मजमून हमेशा वही रहता, कैसे मारम-र कर, पेशेवर मुजरिमा से उसने सच उगलवाया। 'औरत हो या मर्द मैं किसी को नहीं बख़्शाता, वह छाती फुला कर कहता और ब्यौरेवार पिटाई की बारीकियों का बखान करता। उन्हें दुहराने की जरूरत नहीं है। आज कौन है जो टी.वी. नहीं देखता और उन बारीकियों से वाकिफ़ नहीं है। पर लल्ली नहीं थी। टी.वी. देखने की उसे कभी फुसर्त नहीं मिली थी। अब जीजावर के रसिक बखान में उसका सबसे प्यारा जुमला बार-बार सुनकर, उसका बदन थरथर काँपने लगता, मतली उठ आती और वह गश खाकर गिर पड़ती। 'मारम-र कर खाल उधड़े दी' चबर-चबर खाते वह कहता और अट्टहास करके, फिर चस-चस चबाने लगता। लल्ली को बचपन में देखा नजारा याद आ जाता। जिनावर से हट कर मानुश तक पहुँचने का उसका डर साकार होता और वह गश खा जाती।

कुँवारी लड़कियों के बेहोश होकर गिरने पर कोई ध्यान नहीं देता लल्ली के रिश्तेदारों ने भी नहीं दिया। होश आने पर वापस काम पर लग जाती। हाँ, जीजावर ने ज़रूर खुशमिजाजी से हँस कर, रोमानियत का परिचय देते हुए कहा था, 'अहा, लल्ली जवान हो गयी, इसके हिस्टीरिया का एक ही इलाज है, तत्काल शादी।' बाकी लोग भी हँस दिये थे। कहा था, अब तो महीना ही बचा है। लल्ली बेहद डर गयी थी। बेभाव की मार उसने कभी खायी नहीं थी, पर जिंदगी में, किसी ने कभी किसी किस्म की रियायत भी उसके साथ नहीं की थी। लिहाजा, खाल उधड़ेने में इतना रस लेने वाला आदमी, उसे साबतु छोड़ देगा, इसका भरोसा नहीं था। डर ने ऐसा आलम बनाया कि जैसे होता है, हर चीज से हट कर, यान पूरी तरह अपने पर अटक गया। तभी यह अहसास हुआ कि सामने वाली बरसाती में रहने वाला, डेढ़

पसली का किरायेदार उसे घूरता रहता है। अब जो नज़र उठाकर उसकी तरफ़ देखा तो पाया कि वह मुस्करा ही नहीं रहा, गुनगुना भी उठा है और अगले पल, सीटी भी बजा बैठा है। फिर एक दिन जीजावर की फ़रमाईश पर, मौसम के नए आए करेले खरीदने बाज़ार जा रही थी कि वह उससे आ टकराया। फिर जो-जो होता है हुआ और लल्ली उसके साथ भाग गयी।

डेढ़ पसली का नौजवान मुसलमान था उसे तब पता चला जब दिल्ली शहर पहुँच कर, निकाह पढ़वाने, वह उसे मौलवी के पास ले गया और उन्होंने कलमा पढ़वा कर, उसे लैला बनने को कहा। तब जिंदगी में पहली बार, उसकी राय पूछी गयी। मौलवी साहेब ने जब पूछा, निकाह से तुम्हें इकरार है कि नहीं तो नयी-नयी लैला बनी लल्ली, डबल खुशी के मारे लहोलुहाट हो गयी। पहली खुशी यह कि डेढ़ पसली, मिर्चम-साला कूटने की दुकान में क्लर्क था। गुड़गाँव से दिल्ली आना उसका पहले से तय था तभी लल्ली को भागाने की हिम्मत की थी। किसी की खाल उधड़े ने लायक न उसकी सेहत थी, न औकात। दूसरी यह कि लैला बनते ही उसकी रज़ामदी की दरकार पड़ने लगी थी।

लैला बनी लल्ली, दिल्ली शहर के खारी बावली इलाके की एक तंग गली में जा लगी। जिस मियानी में शौहर के साथ घर बसाया, उसके ठीक नीचे गली में मिर्चम-साले सूखते, कुटते, पिसते छनते थे। धुआँ उड़ते फटफटियों में लद कर साबुत माल आता था और पिसा माल जाता था। मिर्चम-साले की धाँस, पत्थर के कोयले की अँगोठियों का कसैला धुआँ और कचरे के ढेरों से उठती सड़ांध, मिलकर वह समों बाँधती कि चमार टोले की चमरौंध पानी भरे। शादी का मतलब बंद कमरे में धुआँ, धाँस और सड़न सहना मानकर लैला संतोष से जी रही थी कि सैंया को गाँव में रहने वाले माँ-बाप याद आ गये। सालाना छुट्टी के सात दिनों में उसे वहाँ लिवे ले गये। वहाँ यानी यहाँ, खेड़ी गाँव।

गाँव पहुँच कर पता चला कि शौहर की पहली बीवी मौजूद थी जिसे तपेदिक की बीमारी थी और बरस-भर का छोकरा भी। एक से ज्यादा बीबी का होना, खुदापाक की मंजूरी से था और बच्चे का होना, कुदरत की दुआ से। सो अपनी हिरास को पेट में दबा, लैला जैसे रहती आयी थी, रहती गयी। तभी एक राज और खुला। यह कि पसली मर्द की डेढ़ हो चाहे ढाई वह पुलसिया हो चाहे चाकर, बीवी की खाल उधेड़ने का जश्न, हर कोई मना सकता है। दो-चार दिन के त्यौहार के बाद समझ में आया कि हो न हो, उससे शादी इसीलिए की होगी, क्योंकि पसली चली पहली बीवी की खाल पर जश्न मनाने में, क़ातिल होने का डर था।

अजीब बात यह हुई कि जब हफ्ते बाद लैला दिल्ली लौटी तो रह-रह कर उसे खेड़ी गाँव याद आता रहा। जब-जब साँस धसके में बदल कर छाती में अटकती, उसे गाँव खेड़ी में खुलकर साँस लेनी याद आ जाती। मन में चाह

उठती कि काश! वहाँ रह पाती।

दूसरी बात जो कई बार मन में उठती, वह यह थी कि कौन जाने इस सैंया से पुलसिया जीजावर ही बेहतर रहता। औरों को कूट-पीटकर इतना अघा जाता कि लैला को पीटने का मन न बनाता। इस बेचारे डेढ़ पसली के लिए तो मुल्ला की दौड़ लैला तक थी। वैसे वह बुरा आदमी नहीं था। जैसे सब होते हैं, वैसा ही था। एकाध छुट्टी के रोज उसे लाल खिला वगैरह घुमाने भी ले गया था। तभी उसने फटफटिया के अलावा, बीड़ी पिलाती टुकें बसें, गाड़ियाँ देखी थी। धकापेल धुआँ उगलती। गुड़गाँव में उतनी रेल-पेल नहीं थी, या उसने देखी नहीं थी। चौड़ी सड़कों पर उसका जाना ही कितना हुआ था।

जिन्दगी उसी ढर्रे पर चलती रहती अगर दो-एक संयोग और न जुट जाते। हाँ- हाँ मालूम है, इस कहानी में संयोग ज्यादा जुटा रहे हैं। क्या करों, आजकल कहानी लिखने में यही मुश्किल पेश आती है जाने क्यों लोग चाहने लगे हैं कि कहानी में हादसे-संयोग वगैरह न हो। भला बतालाइए, जब हादसों-संयोगों के अंबार का नाम ही जिन्दगी हो तो ऐसी बेतुकी फ़रमाईश क्यों? गुजरा जमाना ठीक था। अपने वहाँ ही नहीं, बाहर के देशों में भी, किस्मत को सबसे ऊपर माना जाता था। लेखकगण काव्य-नाटक में होनी का होना दिखला कर यश बटोरते थे। जब से विज्ञान के अतिरिक्त मोह ने होनी की बैसाखी, लेखक से छीन ली, बेचारा दो कौड़ी का होकर रह गया। कहानी में हर हुए का तर्कसंगत कारण दिखलाये तो जिंदगी का रस चौपट करे और जिंदगी की तर्कहीनता से मेल खाती कहानी लिखे तो गुणी जनों के जूते खाये। जहाँ तक लल्ली-लैला की रामकहानी का सवाल है, ईमानदारी का तकाज़ा है कि जो-जो हुआ वही कहती चली। अब आप चाहें तो माफ़ी दें, चाहें तो जूते मारें।

तो पहली घटना जो घटी, उसे लल्ली की नजर से देखेंगे तो दुर्घटना ना नहीं कह सकेंगे। सैंया की पहली बीवी का इंतकाल हो गया। दो साल का बच्चा दादी के सिर आन पड़ा। लैला को साथ ले जैसे ही शौहर गाँव रवाना हुआ, उसने ठान ली, वापस शहर नहीं पलटेगी।

गाँव पहुँचने पर उसने वह छत फाड़ स्थापा किया, सास-ससुर की वह फिल्मी सेवा की और बेमों के बच्चे को वह जसोदई लाइ लड़ाया कि गाँव-का-गाँव उसका मुरीद हो गया। सैंया के शहर पलटते वक्त, जब लैला ने कहा, वह गाँव रहकर सास-ससुर -बेटे की टहल करना चाहती है तो पूरा गाँव उसके सिर पर हाथ रखे खड़ा था। सैंया क्या करते, अकेले लौट गये। सोचा कुछ दिन बाद देखा जायेगा। वह सोच दूसरे संयोग के चलते फिस्स हो गया। (कहानी में शायद चौथा या पाँचवाँ हो) हुआ यह कि फरीदपुर गाँव के चमार टोले का एक बंदा, जो लल्ली की दादी की सिली बंडी पहन बड़ा हुआ था और उसके बनाए खिलौने शहर में बेच पढ़ा-लिखा था; आरक्षित कोटे से ज़िला नूह से एम.एल.ए.

चुन लिया गया ।

उसका पड़ाव गाँव खेड़ी में हुआ और लैला का लल्लू रूप उसके सामने आ गया। सवाल पूछते चले जाने का अपने यहाँ रिवाज है ही । आधे घंटे में चार पुस्तों का नकाब उलट जाता है। बिनये की बेटी के मुसलमान होने और खास मुसलमानों के गाँव में आ बसने के भीतर, उसे खासा राजनीतिक मुनाफ़ा नज़र आया। झटपट लैला गाँव में साथिन मुकर्रर कर दी गयी। अब भला शौहर उसे काहे शहर बुलाता? पक्की आमदनी तो गाँव रहने पर होनी थी। साथ में परिवार की टहल। एक और बीवी जाने की मनाही थी नहीं, सो उसने शहर में अपना बंदोबस्त कर लिया।

साथिन बनाये जाने का तत्काल फ़ायदा लैला को यह हुआ कि पत्थर-रोड़ी की खदानों में काम करने नहीं जाना पड़ा। गाँव की तमाम कामगार जनता वहीं काम करती थी और तपेदिक की बीमारी पालती थी। वहाँ पहुँचती तो खारी बावली की धुआँ-धुआँ हवा को तरसती नज़र आती। कल्हड़ की मार से बंजर हुई ज़मीन पर उगे चाहे कुछ ना, उसके ऊपर से गुज़र कर जाती हवा में, खुलकर साँस फिर भी ली जा सकती थी ।

साथिन बनने के पहले लैला ने यह जानने की कोशिश नहीं की कि गाँव की ज़मीन में इतना कल्हड़ क्यों है? वहाँ की पचास फ़ीसदी आबादी को तपेदिक क्यों है? साथिन क्या बनी, हर तरह की आलतू-फ़ालतू जानकारी उसके पल्ले पड़ने लगी। बारहवी पास होने का अलग जंजाल। कागज़ का जो पुर्जा सामने आ जाये, पढ़ डाले। पहली बात यह पता चली कि पहले गाँव की ज़मीन बंजर खार नहीं थी। सरकार की मेहरबानी से जो नहर बनायी गयी, उससे खार किनारों की तरफ भागा और खेतों में जा बसा। पानी की आमद का इंतजाम तो हुआ पर निकास का नहीं। सो दिनों-दिन कल्हड़ धरती में मिलता-धँसता-जुटता रहा और खारा पानी, चार फुट नीचे खड़ा रह गया। जमीन के ऊसर होते चले जाने पर किसानों को पत्थर-रोड़ी की खदानों में काम करने जाना पड़ा, यह किसी के बिना बतलाये, वह समझ गयी। तपेदिक की बीमारी की बाबत भी बिन खोजे जानकारी हाथ लग गयी। वही ज़िला नूह में नामी-गिरामी डॉक्टर जुटे और हफ़्ता भर बहस करते रहे कि असल बीमारी भगवान की दया से हुई तपेदिक थी या पत्थर-रोड़ी खदानों की दुआ से मिली, सिंक-कुछ या ब्रांक-कुछ। ठोस नतीजा कुछ न निकला। निकलता भी तो गाँव की सेहत और मैयत में फ़र्क नहीं पड़ने वाला था ।

इन आलतू-फ़ालतू जानकारियों को छोड़े तो साथिन के नाम, तीन काम थे । पहला, गाँव के बच्चों को टीका अभियान में जुटाना; दूसरा आँगनबाड़ी में चना बाँटना और तीसरा, परिवार नियोजन करवाना, यानी औरतों को नसबंदी के लिए लाना । इनमें पहला काम मुस्तैदी और पाबंदी से होता था। पर अभियान साल में दो बार चलाया जाता था, जिससे

बच्चों के नामों की फ़ेहरिस्त बनाने और रजिस्टर में टीका लगवायी की सूची चढ़ाने

वग़ैरह को लेकर भी, एक-दो महीनों में काम जुटता था। बाकी नौ-दस महीने, हफ़्ते में एक बार आँगनबाड़ी में चना बाँटना होता था। एक और दिन समझो, किताबी खानापुरी में लग जाता था। कायदे से गाँव के छह साल से कम के तमाम बच्चों को रोज़ाना आँगनबाड़ी में मौजूद होना होता था। वहाँ चार घंटे गुज़ारने होते थे, जिनमें साफ़-सफ़ाई के बाद, उन्हें एक दफ़ा सेहतमंद खूराक मिलनी होती थी और बाकी वक्त के लिए खले-खिलौने। पर वह सब महज़ किताब में दर्ज करना होता था। सेहतमंद खूराक के नाम पर, जो सामान आता था, उसे सड़ने से बचाने के लिए सरकारी अमला पहले ही साफ़ कर जाता था । एकाध फ़ीसदी मिकदार, साथिन के हिस्से आ जाती थी । उसके सहारे लैला का बेटा, औरों के निस्बत, बेहतर पल-बढ़ रहा था। रहा तीसरा काम, परिवार नियोजन का, तो सरकारी नीति में उसका दर्ज़ा अबल नंबर बेशक था, पर गाँव खेड़ी में उसके अमल के बारे में सोचना मुहाल था। हाँ, किताबी खानापुरी उसकी भी करनी पड़ती थी। सहेली नाम की गर्भ निरोधक गोलियाँ, बदस्तूर आती थीं और बँटे चाहे नहीं, बदस्तूर बँटती हुई दिखलायी जाती थी। लैला का बारहवी पास होना, किताबी कार्रवाई के लिए मानी रखता था। तभी सरकार, साथिनों को साक्षर बनाने पर आमामादा है।

धीरे-धीरे लैला की हिम्मत बढ़ती जा रही थी। यह संयोग नहीं था। रूतबे, किताबी कार्रवाइयों और बँधी आमदनी के साथ, खुली हवा में साँस लेने का नतीजा था। मज़ी आपकी, न मानों तो न सही। वजह जो मानों, नतीजा वही रहेगा; लैला हिम्मती होती जा रही थी। उसकी एक निशानी यह थी कि बेटे को स्कूल भेजने का सपना देखने के साथ, भिवष्य जैसी चीज में यकीन करने लगी थी। उसे साथने की कोशिश में, महीने की आमदनी, तुरत-फुरत खर्च करने लगी थी। आप कहेंगे, यह कैसी भविष्य योजना हुई ।

समझा कीजिए जानम। लैला के शौहर ने शहर में एक अदद बीवी भले रख ली थी, गाँव आना थोड़ा न था। आखिर लैला की बँधी पगार को पार लगाना होता था। तो पहले वह छमासे आया, फिर तिमासे, फिर हर महीने आने लगा। पर पूरा घर छान लेने और लैला की जी भर कर कुट्टमस कर लेने पर भी, हाथ कुछ न लगा। लैला सब कुछ पहले निबटा रखती; निबटा क्या रखती, भलीमानस रूपया हाथ में पकड़ती ही न थी। एम.एल.ए. से कह कर इंतज़ाम करवा लिया था कि नक़दी के बजाय, उसके हाथ पर खूराक, लत्ता और छप्पड़ डालने का साजोसामान रखा जाये। खाविंद आये तो भरपेट खाये पर धेला-पैसा कुछ न पाये।

हिम्मत ऐसी शै है कि एक बार पड़ जाये तो सुरसा बन बढ़ती चली जाती है । तो सँया को धता बतलाते और किताबों में खानापुरी करते, लैला उस मुक़ाम पर जा पहुँची, जहाँ

एकदम 'बोल्ड' बन गयी। गर्भ निरोधक सहेली की सप्लाई में से एक जनी की खूराक खुद निगलने लगी। एकदम नियम से रोजाना, बिना नागा। लैला रही होती तो शायद न कर पाती। पर भीतर बैठी लल्ली ने हिमाकृत करवा डाली उसी के साथ, उसे मार से बचने की तरकीब भी सूझ गयी। अगली बार जब सैंया घर आया, उसने उसे सहेली की तमाम बेबैटी गोलियाँ थमा दीं कि गुपचुप ले जाकर शहर में बेच ले और मौज़ करे। सैंया जी खुश हुए और मौज़म-ज़े में लगे। बेचारे को सपने में भी ख्याल न आया कि उसकी बीवी खुद उन गोलियों का सेवन कर सकती है। वह खुदापाक और मौलवी से डरने वाला बंदा था और उम्मीद नहीं, यकीन रखता था कि औरतों मर्दों से ज्यादा खौफज़दा होते हैं। उसे पता चलता कि लैला की हिम्मत, खुदा के खौफ़ को धता बतला चुकी है, तो वह उसे औरत मानने से इन्कार कर देता। आप चाहें आप भी कर दें। औरत मानें, मर्द मानें, छिनाल मानें, फ़र्जी मुसलमान मानें, जो चाहें मानें, कहानी उसीकी कही जायेगी।

इन्हीं तमाम संयोगों-हादसों-हिमाकृतों के चलते, लैला उर्फ लल्ली, हाथ-पाँव खुले छोड़, खाट पर पसर गयी और धूल-मिट्टी भरी, पर धुएँ और पत्थर की कनियों से खारिज हवा में सांस ले पायी।

परिवार नियोजन के फ़र्जी आकँडे तैयार करके, गाँव वालों के बच्चे पैदा करने के पाक इरादों में दखल न देने के लिए, गाँव उसका शुक्रगुज़ार था। इसिलए उसकी कई बेजा हरकतों को अनदेखा कर देता था।

अब जो चमराँध का बदबूदार भभका, नथुनों में घुसा तो लल्ली तमक कर उठ बैठी, और जिंदगी में पहली बार, पूरी तरह लैला बन गयी। फ़रजान मियाँ का कहा याद आया और कानों में सीसा घोलने लगा। कल ही तो कह रहे थे फ़रजान मियाँ, 'लगा दिया न ससुरों ने जानवरों की खाल खीच, हड्डियों से खाद बनाने का कारखाना यहाँ। सोचा होगा, मुसलमानों का गाँव है, इन नदीदों को क्या बू आनी!' फ़रजान मियाँ कुछ-न-कुछ कहते रहते थे। इसिलए कल ध्यान नहीं दिया था। अब अपनी हवा पर ज़ुल्म हुआ तो माथा गरमाया। मुसलमान जान हवा में बिसायध भर दोगे! इतनी बँसाफ़ी। खुदापाक के बंदों पर ऐसा ज़ुल्म। हवा में पाथर की कनियाँ भरकर, सिंक-कुछ या ब्रांक-कुछ या तपेदिक की बीमारियाँ, सरकार खुद बख़्शाती थी, इसिलए वे पूरी तरह धर्मनिरपेक्ष थी। हिन्दू-मुसलमानों को एकसाँ पकड़ती थी। पर यह क्या कि मुसलमान जान, उनकी हवा में सड़ांध और बीमारी भर दोगे और वे चुपचाप बर्दाष्ट कर लेंगे। कभी नहीं। गाँव भर की मीटिंग बुलानी होगी और कारखाना बंद करवाने की राह तलाश करनी होगी। सीधी डगर न हो तो टेढ़ी ढूँढ़नी होगी। इतनी नीति की बात तो औरतम-मर्द, सब जानते रहे हैं। श्रीकृष्ण से लेकर इन्दिरा गाँधी तक। तो लैला क्यों न जानेगी? इसी देश की मिट्टी में पली-बढ़ी थी। क्या

गाँव, क्या कस्बा क्या शहर, हर जगह की धूल उसके फेफड़ों में अटी पड़ी थी। वह जानती थी मीटिंग बुलाने का काम औरत ज़ात नहीं कर सकती। तब क्या, अपना एम.एल.ए. तो मर्द था।

एम. एल. ए. कुछ ज्यादा ही मर्दानी ऐंठ में आ गया। बोला, 'साथिन का काम है, परिवार की देखरेख और नियोजन। हवा बीमारी सड़ांध जैसे ऊँचे सरकारी महकमों में उसका दखल वाजिब नहीं। वैसे भी औरतजात को औरतजात की तरह रहना चाहिए।' मर, मेरी बला से। गाँव में मर्दों का टोटा ना है और एम. एल. ए. हरदम खेड़ी गाँव में बैठा नहीं रहता। लैला ने सत्य-वचन महाराज और जो आप कहो वह खुदापाक का हुक्म वगैरह कहकर, उसे खातिर जमा करवा दी और उसके शहर जाने का इंतज़ार करने लगी।

वह गया और लैला, दुपट्टे से मुहँ-सिर पुरी तरह ढाँप कर, फ़रजान मियाँ के पायताने जा बैठी। फुसफुसा कर बोला, 'एक राज़ की बात कहनी थी। वह यह कि टीका लगाने को आये कंपाउंडर-नर्स आपस में बितया रहे थे कि यह जो बिसायंध गाँव में छोड़ी जा रही है, उससे तपेदिक या सिंक-कुछ या ब्रांक-कुछ की बीमारी और फैलेगी। यह भी कि पहले यह खाल-खींच, हड्डी-चूरा बनाने वाला कारखाना हिन्दुओं के गाँव में लगने वाला था। पर बामन-बिनयों ने जोड़-तोड़ करके यहाँ लगवा दिया। मैंने जो सुनी कह दी, अब आप जानें और गाँव के बाकी मर्द।'।

फ़रजान मियाँ का खून पहले से खौला पड़ा था। हवा का रूख सीधा उनके खेत की तरफ़ था और पोता, तपेदिक का शिकार। वह यह भी पता लगा चुके थे कि खेड़ी गाँव के लड़के, कारखाने में मुलाज़मत पाने नहीं जा रहे। पटवारी का कहना था, कारखाना खेड़ी गाँव की सरहद से ज़रा-सा बाहर था, सो उनका हक नहीं बनता था। यूँ भी जाने क्यो, कारखाने का मालिक, मरे जानवरों के साथ जिंदा मुलाज़िम भी बाहर से ला रहा था। नौकरी मिल रही होती तो कोई ताकत गाँव वालों को कारखानों के खिलफ़ न जाने देती। पर अभी जो हालात थे, उनमें कारखाना बंद करवाने की हवा बनायी जा सकती थी। इससे पहले कि बाहर से कोई झोले वाला आकर, गाँव वालों को उकसाये कि वे कारखाने में नौकरी पाने के लिए मोर्चा लगायें, मीटिंग बुलाकर मामला फ़िट कर लेना चाहिए।

एक पंचायतनुमा शै हर गाँव में होती है, खेड़ी में भी थी। सो कह-सुन कर फ़रजान मियाँ ने मर्दों की मीटिंग बुलवा ली। साथिन होने के नाते, लैला को सिरमूहँ ढाँप कर, एक कोने में बैठने की इज़ाज़त मिल गयी।

मीटिंग शुरू हुई तो देखा गया कि एक हँसमुख अजनबी जवान आकर, दूसरे कोने में बैठ गया। तुम कौन पूछे जाने पर बोला, 'कारखाने का दुष्मन, नापसंद हो तो चला जाऊँ?' पंचों ने न ना कहा, न हाँ, नौजवान उकड़ू-सा बैठा रहा। लंबे

अभ्यास से सधी अदा के साथ, लैला ने दुपट्टे में नामालूम सी फाँक करके ढके मुहँ की झलक नौजवान को दिखला दी और आँख मटकैया भी कर ली। नौजवान हँसा और पसर कर बैठ गया। घंटों मीटिंग चलने के बाद गाँव के मर्द इस नतीजे पर पहुँचे कि एम.एल.ए. की मार्फत, सरकार को अर्जी दी जाये कि मुसलमानों पर जुल्म न करे और कारखाना, खेड़ी गाँव से दूर ले जाये।

यह प्रस्ताव सुनकर अजनबी इतनी ज़ोर से हँसा कि लोगों को महाभारत का बबूवाहन याद आ गया। हँसी लैला की भी निकल गयी। पर दुपट्टे की आड़ में किसी ने देखी नहीं।

‘यह क्या गुस्ताखी है,’ फ़रजान मियाँ ने फटकारा तो नौजवान इतना संजीदा हो गया कि बेतरह खूबसूरत दिखने लगा। जैसे श्रीकृष्ण का अवतार हो या नेहरू- गाँधी का। फर्श तक झुककर, सलाम करके उसने हँसी के लिए माफ़ी माँगी और आगे बोला, ‘हम-आप खुशकिस्मत हैं जो संयोग से आजकल हर जगह परदूशन और परयावरन के नारे लग रहे हैं। ऊपर से इलेक्शन भी होने वाले हैं। मैं जानता हूँ अभी होकर चुके हैं, पर यह भी खुदापाक का रहमोकरम है कि आजकल, हर साल-दो साल में हो जाते हैं। खुदापाक के रहमोकरम से बड़ी नैमत क्या है। सिवा इसके कि इन्सान को खुदा ने अक्ल भी बरख़्शी है।’

‘हम-आप सब जानते हैं कि आज के जमाने में हर बीमारी से निबटने का एक ही नुस्खा है, पैसा। कारखाना हटवाना है तो पैसा लगाना होगा। दो हजार जमा करो और परदूशन के नाम पर मजिस्ट्रेट की अदालत में केस ठोक दो। रूपए उसकी नज़र करो और फ़ैसला अपने हक़ में करवा लो। किस्सा ख़तम।’

अब गाँव वालों के हंसने की बारी थी। दो हज़ार। बावला है या शहरी। गाँव भर की फेरी लगाकर, दो सौ ना जमा होंगे, यह ढपोरशंख़ दो हज़ार की कह रहा है।

बावला नहीं, भेदिया है किसी ने कहा और मारोम-रो की आवाज़ उठने वाली थी कि नौजवान बोला और खूब ठसके से साथ बोला।

‘दुष्मन हूँ कारखाने का, भेदिया नहीं। बावला भले कह लो। परदूशन रोकने की दीवानगी चढ़ी है सिर पर। पैसों की किल्लत को जानता हूँ। मैं भी आपकी तरह ग़रीब हूँ। पर जाँ-बरख़्शी का कौल भरें तो पैसा उगाहने की तरकीब बयान करूँ?’ नौजवान इतने बाँकपन से हँसा की गाँव के लड़के-बाले साथ हँस दिये और नौटंकी के अंदाज़ में बड़े-बूढ़ों से कहने लगे, ‘हाँ जी दे दो जौ-बरख़्शी।’

अब नौजवान अपने पूरे क़द-बुत में उठ खड़ा हुआ। क्या जवाँ मर्द था। पुलसिया जीजावर जैसा रोबीला और सेहतमंद, ऊपर से जवान और खूबसूरत। लैला की साँस ऊपर की ऊपर अटक गयी। पेट में चाहत की वह मरोड़ उठी कि लगा,

गश खा जायेगी। नौजवान बेहद संजीदा आवाज़ में कह रहा था, ‘सबसे पहले बतला दूँ कि मन मुसलमान हूँ और मेरे अब्बाजानी मौलवी हैं। सरकार ने यहाँ कारखाना खोल कर मुसलमानों से जो नाइंसाफी की है, उसकी मुख़ालफ़त करने में भी हम इंसाफ़परस्ती से काम लेंगे क्योंकि हम मुसलमान हैं और हमारे लिए इंसाफ़, ईमान जितना मानी रखता। इंसाफ़ कहता है जब रिश्त सरकार को देनी है तो पैसा भी सरकार से वसूल करना चाहिए। सो कैसे? रास्ता साफ़ है। अब दिल थाम कर और गुस्सा ताक पर रख कर, इतमीनान से बात सुनिए। बिना ट्रेनिंग के लोगों को सरकार सिर्फ़ एक काम का तुरंत पैसा देती है, नसबंदी करवाने का। अगर हमारे दस बुजुर्ग अपनी औरतों को नसबंदी के लिए ले जायें तो फ़ी औरत दो सौ रूपए के हिसाब से दो हजार जमा हो जायेंगे।’

इतना सुनना था कि गाँव-का-गाँव उठ खड़ा हुआ। तमाम जवान अजनबी से छह-आठ इंच नीचे रहे, पर गिनती में एक पर चालीस थे। सब तरफ से आवाज़ों आ रही थी शैतान, नपाक, बेईमान, काफ़िर! ‘जानता नहीं बदबख़्त,’ बूढ़े फ़रजान मियाँ ने मारपीट टालने की गरज़ से जल्दी से कहा, ‘हमारे मजहब में इसकी मनाही है। तू खुद को मौलवी का बेटा कहता है तो शर्म कर। माफ़ी माँग ले और दफ़ा हो जा यहाँ से।’

नौजवान सीधा तना खड़ा रहा और कड़क कर बोला, ‘मैं, अल्लाहताला के नुमाइंदे मौलवी साहबे का फ़रजंद, सच्चा मुसलमान हूँ। मज़हब की हुक्म उदूली करने को नहीं कह रहा। आपने मतलब का लफ़्ज सुना ही नहीं। बुज़ुर्ग! मैंने कहा था दस बुज़ुर्गों। बुज़ुर्ग की औरतों भी बुज़ुर्ग होंगी न। तो उनकी नसबंदी भला कोई क्यों करेगा? सरकारी अमला लालची-कमीना भले हो, ग़ैरजरूरी काम नहीं किया करता। किताबी कार्रवाई भर होगी। बस। साथिन अपने साथ है। रूपया मिल जायेगा।’

गाँव खड़ा-का-खड़ा रह गया। फिर बुज़ुर्ग ढह गये और जवानों ने ताली पीट दी। लैला ने दुपट्टा और नीचे खींच लिया। पहले से ज्यादा सिकुड़ कर बैठ गयी और सिर झुकाकर अपने हिस्से का हिसाब लगाने लगी। तभी एक बुज़ुर्ग ने तख़मीना झाड़ा, ‘औरतों को ले जाने की ज़हमत भी हम उठायों और कारखाना बंद करवाने को पैसा भी हम दो, यह तो इंसाफ़ न हुआ।’

‘रो यह करो,’ नौजवान बोला, ‘गाँव की तमाम उम्रदराज़ औरतों को ले जाओ, नसबंदी करवाने। ताकि सरकारी अमला भी जान जाए कि सब पैसा ऐंठने की चाल है टका-सा मुहँ लेकर लौटेंगे, तब हो जाएगा न इंसाफ़। मैं चला। आप पे कुछ ना होने का। आपस में एका न हो तो परदूशन से नहीं लड़ा जा सकता।’ चलने के बजाय, वह वापस धरती पर बैठ गया और लैला के दुपट्टे में फाँक ढूँढ़ने लगा।

लैला ने दुपट्टा और कस कर चेहरे पर लपेटा। गरदन

और झुकायी और धीमी आवाज़ में बोली, 'मैं कुछ कहूँ।'
सनाका छा लगा। मर्दों की मीटिंग में औरत की आवाज़। फ़रजान मियाँ सबसे पहले उबरे। याद किया कि भेदवाली बात औरतजात ने ही बतलायी थी और उसकी मदद के बिना, पैसा भी मिलने वाला नहीं था। सो कहा, 'बोल।'

'दस जिनयों को एक साथ ले जाने पर साथिन को कमीसन मिलता है,' लैला ने कहा, 'बीस को ले जाने पर इनाम भी। आजकल परिवार नियोजन महीना चल रहा है। जिस दिन हम सौ करोड़ हुए, उसी दिन अमरीका का हुक्म आ गया था, फ़ौरन आबादी की बढ़त रोको। ऐसा कंपाउंडर, नर्स सभी बतला रहे थे। सो मैं आसानी से बीस जिनयों का पुर्जा बना लूंगी। एक हज़ार उस पर मुझे मिलेगा। अपने हिस्से का चौथाई बाकी सब दे तो एक हज़ार और हो जायेगा। गाँव के बड़े लोग सोच-समझ लें। जो हुक्म देंगे, मैं बजा लाऊंगी,' कहकर लैला ने बाँके जवान की टटोलती निगाहों से आँखें मिलायीं और झपका दीं।

नौजवान दिलफेंक अंदाज में कह उठा, 'एक बात मेरी तरफ से। मैं कारखाने में चौकीदार लगा हूँ, सो कचहरी से सटे-आरडर मिलने पर, जब वह बंद होगा, तब भी मेरी नौकरी बनी रहेगी और काफ़ी सामान-उमान यहीं पड़ा रहेगा। मैं उससे गाँव की मदद करता रहूँगा। परयावरन की हिफाजत के लिए, मैं कुछ भी करने को तैयार हूँ।'

अहा, कैसा बाँका, निडर जवान है, गाँव भर ने दाद दी। मीटिंग बर्खास्त हो गयी। योजना कामयाब हुई और कचहरी से मिले स्टे आर्डर के तहत, कारखाने में ताला लग गया।

अगला १५ अगस्त आया तो खेड़ी गाँव की साथिन को मुसलमानों से परिवार नियोजन करवाने वाली पहली मुसलमान औरत होने के नाते राष्ट्रपित से समाजसेवी नंबर एक का खिताब मिला। लैला खुश, गाँव वाले खुश; बूढ़े-बुढ़िया खुश, घर-परिवार खुश। इतनी खुशी कैसे झेली जा सकती है? दुःख नहीं होगा। तो सुख की प्रतीति कैसे होगी।

तो दस दिन भी न बीते होंगे कि कानोंकान खबर उड़ गयी कि लगे हाथों, लैला ने अपनी भी नसबंदी करवा ली है। वरना शौहर के नियम से गाँव आने के बावजूद, पेट से न हुई होती। अगली मर्तबा सैया गाँव आया तो हर भलेमानस ने कान में बात डाल दी। फिर तो डेढ़ पसली में वह जोर समाया, लैला की वह धुनाई हुई कि रूई होती तो अच्छी-निक्की रज़ाई बन लेती। धुनते-धुनते सैया की पसली जवाब देने लगी। वह हँफनी चढ़ी कि हाथ-पाँव से लाचार हो गया। दिसयों और लाता-धूँसे जमाने का अरमान, दिल के दिल में क्या रहा, आव-ताव देखना छोड़, फुत्कार उठा, - 'तलाक-तलाक-तलाक !'

लल्ली ने अपने मौला का लाख-लाख शुरू अदा किया कि एक ही जिंदगी में उसे लल्ली से लैला बनने का मौका दिया। बदन की चोटों का क्या था, वक्त के साथ ठीक हो जानी थीं। पर यूँ फ़ौरी तलाक़, लल्ली बनी रहती तो किस बिध मिलता?

लैला ने अम्लाहताला का हर तरह शुक्राना अदा किया। पीर की दरगाह पर चादर चढ़ायी, पाबंदी से पांच बार नमाज़ पढ़ी, ग़रीब-ग़ुरवा में खैरात बांटी और बाँके जवान को मौलवी साहबे के पास भेज दिया।

मौलवी साहबे इसाफपसत खुदा के बंदे थे। नौजवान का बाप, उनका हम ज़ुल्फ़ न भी होता तो वे वही कहते जो तब कहा। लैला को सबूत देना होगा कि उसने नसबंदी नहीं करवायी। इंसानी तख्मीनों से परे, खुदाई सबूत तभी मिल सकता था, जब लैला के बच्चा पैदा हो। बच्चा तभी हो सकता था जब कोई मर्द उससे निकाह करने को राज़ी हो। बाँका जवान फ़ौरन राज़ी हो गया। साल पूरा होने से पहले, लैला ने माँ बनकर दिखला दिया। पहले शौहर की पहली बीवी के बेटे को भी, पहले की तरह, अपनी औलाद की तरह साथ रखा। पता नहीं गाँव शर्मिदा हुआ कि नहीं, पर उससे डरकर ज़रूर रहने लगा। सहेली की बेबंटी गोलियाँ, अब दूसरा शौहर शहर में बेचने लगा।

इन दरमियानी किस्म की बातों से अलग काम की बात यह हुई कि दूसरे खाविद ने अपनी सनक नहीं छोड़ी। उसकी खॉटी तरकीबें रंग लाती रही, आसपास प्रदूषण कम होने लगा और पर्यावरण सुधरता नज़र आने लगा। इतना कि अगले बरस, जब विष्व बैक के अमरीकी नुमाइदें या कहें कि अमरीका के विष्व बैकीय नुमाइदें हिंदुस्तान आए तो उन्हें गाँव खेड़ी ले जाया गया। गाँव से ज्यादा, वे बाँके नौजवान से मुतास्सिर हुए। उनके हाँठों पर उसका नाम आना था कि देश-प्रदेश की राजधानियों में उसके चर्चे चल निकले। अब खबर यह है कि अगले इलेक्शन में उसका एम.एल.ए. बनना तय है।



मृदुला गर्ग

जन्म: २५ अक्टूबर १९३८, जन्मभूमि: कोलकाता, पश्चिम बंगाल। मुख्य रचनाएं: कठगुलाब, उसके हिस्से की धूप, जादू का कालीन, चित कोबरा, टुकड़ा टुकड़ा आदमी पुरस्कार उपाधि: व्यास सम्मान २००४, साहित्य अकादमी पुरस्कार, हिंदी साहित्यकार सम्मान, साहित्य भूषण सम्मान आदि

अन्य जानकारी: उसके हिस्से की धूप नामक उपन्यास को १९७५ में तथा जादू का कालीन को १९९३ में मध्य प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत किया गया है।

कविता अपने समय की परिभाषा भी है।

स्वप्निल श्रीवास्तव की कविताएं।

विजय बहादुर सिंह

समकालीन कविता के मुख्य मार्ग पर चलते हुए भी कुछ कवि बगैर किसी शोर-शराबे के जमाने की पदचापों का इतिहास लिखते चलते हैं। उन्हें अपने अनुभवों और उनकी भाषा बन चुके शब्दों पर इतना भरोसा होता है कि प्रचारधर्मी सभ्यता की ओर से आंख मूंदे वे अपने कवि-कर्म में ही डूबकर उसकी साधना का सुख लिया करते हैं। स्वप्निल श्रीवास्तव हमारे समय के ऐसे ही खामोश बिरादरी के कवियों में से हैं। इसका एक कारण यह भी शायद है कि साहित्य उनके लिए एक अवसर या चरित्र चमकाने की चीज नहीं बल्कि जीने का एक और खूबसूरत तरीका है। इस तरीके में आदमी खुद तो रोज-रोज खूबसूरत होता जाता ही है, आस-पास की उसकी दुनिया और समय भी निखार पाते चलते हैं।

स्वप्निल इन दिनों अपनी छोटी सी आत्मकथा और बेहद दिलचस्प संस्मरणों के लिए भी पाठकों को निगाह में हैं किन्तु उनका बुनियादी कर्म तो कवि वाला ही रहा जिसे वे आठ-दशक से करते आ रहे हैं। कविताएं भी उनकी बेहद खामोशी से किन्तु प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में छपती रही है। ये वे दिन थे कविता अपने अनुभवों की अभिव्यक्ति तो थी किन्तु आत्मप्रचार नहीं। तब साहित्य और राजनीति में तमाम अफरा-तफरी के बावजूद आस्थाएं इस कदर धूमिल नहीं हुई थीं, मूल्यों की बिरादरी इस तरह अवमूल्यों की चपेट में नहीं आई थी। स्वप्निल जिन गांवों और कस्बों से होकर आए थे, वहां अब भी बहुत कुछ ऐसा बचा था, जिसमें मनुष्य और उसके पुरुषार्थी सौन्दर्य को महसूस किया जा सकता था। उनकी कविताएं अपनी यात्रा यहीं से प्रारम्भ करती हैं। यह यात्रा इतनी स्वाभाविक और सहज है कि कवि की संवेदनाओं का चेहरा जिये जा रहे जीवनानुभवों से जगमगा रहा है। निश्चय ही ये ज्ञानात्मक संवेदना की न होकर संवेदनात्मक ज्ञान की कविताएं हैं। गांव-खेत-खलिहान मौसम और वस्तुएं, श्रम और उसका सुवासित सौन्दर्य यहां उनका अपना अनुभव-लोक बना हुआ है। उनके पहले काव्य-संग्रह 'ताख पर दियासलाई' (१९९२) की 'कछार' कविता में उनकी कल्पनाएं ऐसे ही जीवन-भूगोल की गवाही देती हैं—

मजूरों के सिर पर बोझ है

उनके सिर के ऊपर
कलंगी की तरह झूल रही हैं
धान की बालें—
यही कछार मेरा घर है।

'गमछा' कविता में जिस में ये खास पंक्तियां हमारा ध्यान खींचती हैं—लड़का पसीने की गंध से पहचान जाएगा कि यह उसके बाप का गमछा है।

कह सकते हैं ये श्रम से छलके पसीने के सौन्दर्य की कविताएं हैं। स्वप्निल इस जीवन और उसके श्रम-सौन्दर्य के जब-तब किंचित रोमानी निगाह से भी देखते हैं। 'बारिश' शीर्षक कविता की पंक्तियां हैं—

सिर पर घास का पहाड़ लिये
वे उड़ रही हैं
□ □ □

उनकी भीगी हुई देह को एक-एक
धारियां दिखाई देती हैं
कमर में बजती है करधन

बेशक ये किसी विचार सिद्धान्त या विचारधारा ग्रस्त अभिव्यक्तियों की नहीं, उस सहज कवि-दृष्टि से उपजी कल्पनाएं हैं जो मेघदूत आदि काव्यों के रचयिता कालिदास के जमाने से चलती चली आ रही हैं। कालिदास के आचार्य व्याख्याकारों ने इस श्रम से फूटे पसीने के सौन्दर्य की सात्विक सौन्दर्य की संज्ञा दी है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे पण्डितों ने टिप्पणी करते हुए लिखा है— 'सात्विक सौन्दर्य वहां है, जहां चोटी का पसीना एड़ी तक आता है और नित्य समस्त विकारों को धोता रहता है। पसीना बड़ा पावक तत्व है मित्र, जहां इसकी धारा रुद्ध हो जाती है वहां कलुष और विकार जमकर खड़े हो जाते हैं।' मेघदूत : एक पुरानी कहानी।

इन कविताओं में संभव हो कवि की छिपी-दबी वर्ग-चेतना भी काम कर रही हो और ऐसा करना अपराध-कर्म भी नहीं है, किन्तु जिस तरह से ये बुनी और रची गई हैं, उसमें अनुभवों की प्रगाढ़ प्रेरकता है। फिर यह अपने समय से अचेत कवि नहीं है। उसमें यह समय-बोध जब-तब

जाहिर भी हो उड़ता है।

अपने दूसरे संग्रह 'मुझे दूसरी पृथ्वी चाहिये' (२००४) में स्वप्निल अपने गतिशील अनुभवों के चेहरों को कुछेक चरित्रों, कर्मों और कर्मकाण्डों के द्वारा पहचानने और परिभाषित करने की कोशिश करते हैं। ये कविताएं वस्तुतः उस बुनियादी इंसानीपन की मांग से भरी हुई हैं और संग्रह के शीर्षक को सटीकता और औचित्य प्रदान करती हैं—

हमें हिंसा रहित एक नई भाषा खोजनी है

निश्चय ही वह परिंदों के पास होगा। 'बादशाह हुसेन रिजवी का दुःख' में कवि की पक्तियां कुछ ऐसी हैं—वे एक इंसान हैं, किन्तु हिन्दुओं के मुहल्ले में मुसलमान समझे जाते हैं। इन कविताओं में 'आजादी' की जबरदस्त मांग एक सपना बनकर आती है। किन्तु यह आजादी ऐसे उस समाज के लिए जो चुप्पी को ही अपना जीवन-सौन्दर्य मानता हो—सपना ही बन रही है। साम्प्रदायिकता, उसकी हिंसक क्रूरता, आतंकवाद, जो आज समूची दुनिया के लिए चुनौती बन खड़े हैं, इन कविताओं में अनुभव-मुखर हैं। ये हमारे समय की वे हिंसक खरोंचे हैं जिनसे समय का चेहरा लहुलुहान और दागदार हो उड़ा है। इस अर्थ में ये कविताएं हमारी चेतना में एक तीखे प्रतिरोध की तरह आती हैं।

कवि की अब तक इस काव्य-यात्रा पर सोचते हुए यह कहने की जरूरत महसूस होती है कि यह गतिशील अनुभवों और उन्हें रूपाकारों में बांधने वाली जीवंत कल्पनाओं का कवि है। गांव, कस्बे, नगर, उपनगर और जब-तब महानगरों तब आते-जाते इसकी सचेत और सतर्क संवेदनाओं ने जो देखा और महसूस किया है वह एक संवेदनशील नगर के भाव-प्रवण कवि की कमाई है। इन कविताओं को पढ़ते हुए हम अपने इस समय की पहचान कर सकते हैं जो अकेले कवि का नहीं, हमारा अपना भी बेहद मुंहजोर और आक्रामक समय है। कविताएं इस आक्रामकता का बोध हमें जिस शैली में कराती हैं वह कोमल और वेदना-विगलित होकर भी हमारी चुप्पियों और प्रतिरोध धर्मिता को उकसाती हैं। निश्चय ही इनका एक स्वर विडम्बनापरक भी है।

सामाजिक जीवन में शालीनता के नाम पर घर कर चुकी निष्क्रियता और किंकर्तव्यविमूढता को लेकर भी ये कविताएं आलोचना-प्रखर हैं।

लोकांचलनों के जीवन-प्रवाह और उनके पुरुषार्थी सौंदर्य से चलकर कवि ने नगरो-महानगरों की यात्राओं तक जो कुछ अर्जित किया है उसमें हमारे समय में वर्चस्वी हो उड़े धर्म, राजनीति और बाजार के बिगड़ल और विकृत होते जाते लोकविरोधी चेहरों की पहचान ये कविताएं जिस अंदाज में कराती हैं वह बेहद आत्मीय और भरोसेमंद हैं पर यहीं तक इस कवि की यात्रा नहीं है। वह उस सनातन जीवन-बोध और सृजनात्मक ऊर्जा-बोध तक के इलाकों में

भी अपने कवि-कर्म की मौजूदगी दर्ज करता है जो सनातन होकर भी पुरातन का विष्टपेण नहीं बल्कि पुरातन की पुर्ननवता है। यानी कवि का कुछ नया करना नहीं, स्वयं उसका नया होना है। यह मेरा, यह मैं स्वयं विसर्जित। 'बारिश', 'कागज की बत्तखें और पर्याय' जैसी कविताओं में कवि की नितान्त निजी प्रेमानुभूतियों का साक्षात्कार किया जा सकता है। निश्चय ही ये बलात लिखी गई कविताएं नहीं हैं बल्कि कवि-जीवन के कोमल और गहरे अनुभवों की कमाइयां हैं। इन्हें जिस सघन-अनुभवबोध से रचा गया है, वे अपने पाङ्गकों के कोमल और स्वप्नशील संसार का हिस्सा बन जाने में समक्ष हैं।

समकालीन कविता में एक वर्ग उन कवियों का भी है जो जिनकी अभिव्यक्तियां प्रायः हरी होकर अमूर्त हो उड़ती हैं। इसका कारण शायद उनका सर्जनात्मक मानस हो जो जरूरत से ज्यादा बौद्धिक और कला-उन्मुख होकर इस प्रकार की कला-लीला कर बैड़ता है। विपरीत इसके स्वप्निल की कविताएं इस अतिबौद्धिकता और गैर-जसुरी अमूर्तता से बचकर निकलती हुई हमारे उस सहज इन्द्रिय-बोध की गवाहियां पेश करती चलती हैं, काव्यशास्त्र जिन्हें अनुभाव-व्यापारों के रूप में देखता आया है। परिणामतः इन कविताओं में सहज सम्प्रेषणीयता और सुगम कल्पनापरकता है। इसके लिए कवि ने जिस साफ-सुथरी, जीवन के करीब उड़ती-बैड़ती, चलती-फिरती भाषा का संधान किया है, उसमें सपाटता के भी अपने खतरे कम नहीं थे। किन्तु कवि की एक पहचान यह भी है कि वह अपनी कला और प्रतिभा के सपाट सी माने जाने वाली राहों को भी सरस, सम्मोहक और मर्मवेधी कर सके। स्वप्निल की कविताएं अपने समूचे रचाव में इसीलिए सहज सम्प्रेष्य होकर भी, सपाटता से बची हुई और प्रभाव धर्मी हैं, जैसा कि कवि स्वयं मानता है, कवि का सबसे जरूरी अस्त्र है—अनुभव और भाषा। अनुभवों का यही गुंगापन भाषा में ढलकर सम्मोहक मुखरता में परिवर्तित हो उड़ता है। किन्तु यह भाषा एक और अस्त्र लिए रहती है जिसे कवि का विभावन-व्यापार कहे या आधुनिक पदावली में चाहें तो कवि का कल्पना-विहार कह लें। इसके बगैर तो कोई भी भाषा निरलंकृत होकर दैनिक जीवन-व्यवहार की कामकाजी शब्दावली भर बच रहेगी। कवि की पहचान तभी होती है जब उसकी भाषा को कल्पना के पंख मिल जाते हैं। स्वप्निल के यहां इसका शायद ही कोई अभाव हो।

हमारे समय के एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने अपने कवि-कर्म को बेहद संजीदगी और ईमानदारी से निभाया है। उनकी इसी धर्म-निर्वाह की कसौटी ये कविताएं हैं जो यहां एक साथ आप पढ़ेंगे। मुझे पूरा विश्वास है, जमीन और जमाने से हमारा रिश्ता परिभाषित करती ये कविताएं, अपनी अनूझी अनुभव-संपदा और भरोसेमंद काव्य-भाषा के चलते आपका अपने शब्द से शब्द से आश्वस्त करेंगी।

कविताएँ

शमीम ज़हरा

मैं एक आम औरत हूँ

जो खुद को देखती हूँ
डूब जाती हूँ खयालों में
कभी हैरान रह जाती हूँ,
अनसुलझे सवालों में

मेरी सोचों से, बातों से
अजब से राज़ ज़ाहिर हैं
कभी अम्मी, कभी दादी
के भी अन्दाज़ ज़ाहिर हैं

सरापा पर तो मेरे ठीक है
इन सबका साया है
ये 'ओ' आर-एच निगेटिव खून
मैंने किस से पाया है?

बहुत बेशक नहीं मालूम
इतना जान पाई हूँ
बहुत लम्बे सफ़र के बाद
इस मंज़िल पे आई हूँ

मेरे बालों की, स्किन की
अलग सी जो बनावट है
मेरे हर सैल के अन्दर
जुदा सबसे लिखावट है

क्रोमोज़ोम भी यह 'एक्स'
लाखों का ठिकाना है
करोड़ों और अरबों साल
का यकजा खज़ाना है

ज़मीं पर ज़िन्दगी की पहली
हलचल की निशानी हूँ
जैनेटिक कोड में लिखी
हुई लम्बी कहानी हूँ

मेरी धरती के आँचल के,
अनोखे रंग जब निखरे
समन्दर से निकल कर,
जिन्दगी के बीज जब बिखरे

मैं किस-किस रूपमें जन्मी,
पली, किस देश जा उतरी
कभी तो पार कीं नदियाँ,
पहाड़ों, घाटियों गुज़री

अँधेरों में कभी गुम थी,
कभी जागी कभी सोई
कहाँ किस से मिली बिछड़ी,
कभी हँस दी कभी रोई

कहाँ किस मोड़ पर कितने
बिरादर छोड़ आई हूँ
नजाने कितने गुण किस किस
के अपने साथ लाई हूँ

कोई हालात हों हर तौर,
खुद को ढाल लेती हूँ
कि बिल्कुल अजनबी
लोगों में बच्चे पाल देती हूँ

क्रोमोज़ोम 'वाय' से ,
सदा से साझेदारी है
कि इस दहशतज़दा के
साथ ही मैंने गुज़ारी है

कभी डर कर मुझे परखा,
कभी सिर को दिया काँधा
मौहब्बत से मुझे रखा,
कभी जंजीर से बाँधा

बहुत जुल्मो सितम सहकर
भी इसको प्यार करती हूँ
इसी के नाम पर जीती हूँ
इसके नाम मरती हूँ

कि हद हो जाए तो तन्हा
भी जीना सीख जाती हूँ
मैं खुद को 'वाय' क्रोमोज़ोम
से मज़बूत पाती हूँ

ये दुनिया मेरे दम से है,
कि जीवन की ज़रूरत हूँ
मैं इस पर फ़ख़्र करती हूँ
कि मैं एक आम 'औरत' हूँ

अम्मी!!

मैं अपना हाथ छूती हूँ
तुम्हारा लम्स मिलता है
कभी जब आइना देखूँ
तुम्हारा अक्स लगता है

कभी वो मुन्तज़िर नज़रें
मुझे आवाज़ देती थीं
जो मिल कर लौटना चाहूँ
तो कुछ पल रोक लेती थीं

वो एक इसरार पैरों में
लिपटता साथ आता था
कि दिल का एक हिस्सा
जैसे पीछे छूट जाता था

मौहब्बत तुम से सीखी थी
उसी से ज़िन्दगी गुज़री
जो सौंपा था वो काफ़ी था
जो गुज़री ठीक ही गुज़री

दुआएँ थीं वो दिन आए
मेरे बच्चे बड़े होंगे
फिर उनके अपने घर होंगे
वो पैरों पर खड़े होंगे

यही वे दिन हैं पर दूरी
का ये एहसास भारी है
वो ही हैं मुन्तज़िर नज़रें
अजब सी बेकरारी है

वो रस्ता देखती आँखें
मुझे दे कर कहाँ गुम हो
नहीं ऐसी नहीं थी मैं
सुनो ये मैं नहीं तुम हो

ग़लत कोई ये कहता है
कि वापिस आ नहीं सकतीं
बसी हो मुझ में कुछ ऐसी
कहीं तुम जा नहीं सकतीं।

शमीम ज़हरा

जन्म- १७.११.१९४९

जन्मस्थान- नगीना ज़िला बिजनौर यू पी

वर्तमान निवास- भोपाल मध्य प्रदेश

शिक्षा- एम ए (संस्कृत), एल एल बी

सेवा विवरण- २००९ में डिप्टी कलेक्टर पद से सेवा
निवृत्त

सामाजिक गतिविधियाँ- महिलाओं और बच्चों से
सम्बन्धित विभिन्न समाज सेवा की गतिविधियों में
संलग्न ,एक गर्ल्स हास्टल संचालित
लेखन कार्य- विभिन्न पत्र एवं पत्रिकाओं में लेख,
कविताएँ एवं कहानियाँ निरन्तर प्रकाशित एवं , रेडियो
एवं टी व्ही पर प्रसारित होती रही हैं।

शशि सहगल

(१)

एक टुकड़ा आसमान

हर महीने की पहली तारीख को
कहते हो तुम
'लिस्ट बना दो'
पूरे महीने का सामान
नौन, तेल, लकड़ी, साथ में कंघा ब्रश
सालों साल हो गए
इस रूटीन को दोहराते
पहली से तीस तक का सामान भरते
पर क्या वह भरा?
क्यों नहीं इस बार कुछ परिवर्तन करें
भूल जाओ साबुन, तेल, ब्रश
और ले आओ
एक बड़ा सा टुकड़ा आसमान।
जो अपने आँचल में
बादलों सा उड़ाता रहे मुझे
कभी इधर, कभी उधर
हवा से हल्की होकर मैं
सभी दबावों से मुक्त
जीना चाहती हूँ यह एहसास
चाहिए मुझे थोड़ी सी खिली धूप
सभी वर्जनाओं से दूर
मूल्यों-अवमूल्यों से उदासीन
आँगन के खुले में फैली
दरवाज़ों के दरीचों से भीतर घुसती
ऐसी धूप
मेरी ऊष्मा को और अधिक गरमाती।
लाना थोड़ी से खुली ताज़ी हवा
उसे मुँह में भर ले जाना चाहती हूँ।
ताज़गी देती हवा

मन की घुटन और असमर्थता का
सारा प्रदूषण फेंक डालेगी बाहर
यही ताज़ी हवा।
ऐसी ही कुछ चीज़ें भर लाओ
अपने झोले में इस बार
लाओ तो सही
झूमेंगे हम दोनों
घर में साथ-साथ।

(२)

कलफ़

सुबह कलफ़ लगी साड़ी पहन
आत्मविश्वास से भरपूर देह
घर की दहलीज़ पार करती है
साड़ी का कलफ़
मन को परत-दर-परत
और अधिक दृढ़ करता लगता है।
शाम को
काम से लौटते हुए कलफ़
सुबह सा कड़क नहीं रहता
घर की दहलीज़ पर
कदम रखते ही
रहा सहा कलफ़
पानी सा तरल हो
ढूँढ़ लेता है अपनी जगह
गिलास, प्याली और पतीले में।

(३)

घर में तलाश खुद की

घर में तलाश खुद की
तुम्हारे घर में मैं
इतनी उलझ गई हूँ
कि खुद से बेगानी हो
ढूँढती हूँ अपने को
ठौर-कुठौर।

कभी खँगाळती हूँ
आत्मारी की अनखोली तहों में
कहीं पड़े हों पटोले मेरे
शायद मुझसे मेरी ही पहचान करा दें।

तो कभी
गली में पड़ी रोड़ी को
देखती हूँ बड़े गौर से
ढूँढती हूँ उनमें छिपे
गीटों को
पता नहीं कोई गीटा
मुझे मेरे होने का वास्ता देता
देख रहा हो

मुझे बेसब्री से।
कई बार बहानों से
बार-बार जा खड़ी होती हूँ खिड़की पे
कि कोई बिछड़ा यार ही
कहीं गुज़र न रहा हो मेरी गली से
जो नज़रों की डोरे से बाँधकर
ले जाए मुझे
पीपल की ओट में
या छत की बरसाती के पीछे
मैं बड़ी बेसब्री से
खुद को ढूँढती हुए
बदहवास भटक रही हूँ
हर तरफ।

शशि सहगल का संक्षिप्त परिचय

२ अक्तूबर, १९४४ को लाहौर में जन्मी शशि सहगल एक संवेदनशील कवयित्री, कथाकार और आलोचक के रूप में जानी जाती हैं। उनकी कविताओं का परिवेश घर-बाहर संघर्ष करती स्त्री का परिवेश है।

अब तक शशि सहगल के तीन कविता संग्रह 'कविता लिखने की कोशिश में', 'टुकड़ा-टुकड़ा वक्त' और 'मौन से संवाद' प्रकाशित/चर्चित हो चुके हैं।

शशि सहगल ने कविता के अतिरिक्त 'नई कविता में मूल्यबोध', 'रीतिमुक्त कवि घनानंद' और 'साहित्य-विविध विधाएँ' लिखकर अपनी आलोचकीय प्रतिभा का परिचय भी दिया है। पंजाबी से हिन्दी में अनुवाद में वे माहिर हैं। उन्होंने अभी तक भाई वीर सिंह के कविता संग्रह 'मेरे साईयां जीओ' तथा प्रभजोत कौर के 'पब्बी' का हिन्दी अनुवाद किया है। यह दोनों किताबें साहित्य अकादमी से प्रकाशित हुई हैं। 'नानक सिंह की चुनिंदा कहानियाँ', 'महिन्दर सिंह सरना की चुनिंदा कहानियाँ', 'कर्तारसिंह दुग्गल की चुनिंदा कहानियाँ' 'पंजाबी प्रवासी कहानियाँ' और गोपाल सिंह की किताब 'गुरु गोबिंद सिंह' का अनुवाद किया है जो नेशनल बुक ट्रस्ट से प्रकाशित हुई हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने बलवंत गार्गी के नाटक 'मिर्जा साहिबा' के हिन्दी अनुवाद के साथ-साथ अनेक हिन्दी कविताओं का भी पंजाबी में अनुवाद किया है जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ है।

दिल्ली विश्वविद्यालय के माता सुन्दरी कालिज में लगभग पैंतीस वर्ष पढ़ाने के बाद आजकल स्वतंत्र लेखन कर रही हैं।

सम्मान: शिवप्यारी देवी अवस्थी साहित्य रत्न सम्मान-२०२१

पुणे विश्वविद्यालय द्वारा सम्मानित

पता: एफ-१०१, राजौरी गार्डन, नयी दिल्ली-११००२७

फ़ोन: ९८९९१६६९२९

Email: partapsehgal@gmail.com

ऐ बनारस निसार तेरी गलियों के..

भूमिका द्विवेदी 'अशक'

१९१०१७२९०३

उर्दू और हिन्दी साहित्य के दिग्गज हस्ताक्षर उपेन्द्रनाथ अशक की पुत्रवधू और वरिष्ठ साहित्यकार नीलाभ अशक की पत्नी भूमिका करीब एक दशक से दिल्ली में रहकर 'अशक रचना संसार' की गौरवशाली परंपरा को लगातार गंभीरता से आगे बढ़ा रही हैं। अंग्रेजी, उर्दू और संस्कृत साहित्य की गहन अध्ययता, हिन्दी साहित्य रचना-जगत में एक बहुचर्चित, प्रशंसनीय और प्रतिष्ठित नाम भूमिका द्विवेदी, हिंदी साहित्य जगत की लगभग सभी पत्र-पत्रिकाओं में स्त्री विमर्श समेत विविध और बहुरङ्गी विषयों पर निरन्तर लेखन में सन्लग्न हैं

ऐ बनारस,
मैं बनारसी पान का जायका चाहती हूँ
उसके खामोश होठों से

मैं घाटों की सीढियाँ चढ़ना चाहती हूँ
उसके बेपरवाह दामन से

बुत परस्ती सीखना चाहती हूँ
उस मासूम हुस्न-ओ-जमाल से

शिवाला, कलीसा, क़स्तानी नज़ारा देखना चाहती हूँ
उसकी गुनाहगार आँखों से

उस शहर की हर गली,
हर कूचे में मचलना, इतराना, झूमना, थिरकना, गुज़रना
चाहती हूँ
उसके नाजूक ऊँचे काँधे से

गंगा की लहरे हिलोरें हवा की,
उसी की रूखी हथेली पर समेटना चाहती हूँ

अज्ञान की जुंबिश, सदाएं घण्टे घड़ियालों की सुनना
चाहती हूँ
उसकी ज़ब्त खाहिशात की धड़कनों से

भुला देना चाहती हूँ उसे दाल मण्डी का रास्ता,
तेबायफ़ो से भला उसका क्या वास्ता
बनारसी पैरहन के ताने बाने बनाकर
उसे ही बदन पर लपेटना चाहती हूँ

ए कज़ा के मालिक,
जरा देख बनारस,
मैं तेरे बाशिंदे से क्या क्या चाहती हूँ
बता ऐ बनारस, कुछ ग़लत चाहती हूँ
अगर हो ग़लत, फिर भी हाँ चाहती हूँ

हिन्दी लोकगीत की परंपरा

चन्द्रदेव यादव

हिन्दी लोक साहित्य से मतलब यदि हिन्दी क्षेत्र के लोक-साहित्य से है, तो इसमें जैसलमेर से पूर्णिया और केदार-बद्री से छत्तीसगढ़ तक का लोक-साहित्य आ जाएगा। भाषाओं की दृष्टि से इसमें मैथिली, मगही, भोजपुरी, अवधी, बघेली-बुंदेली, छत्तीसगढ़ी, मालवी, मारवाड़ी, ब्रज, हरियाणी-कौरवी, पहाड़ी एवं बिहार तथा मध्य प्रदेश की जनजातीय भाषाएँ सम्मिलित हैं।...छोटानागपुर और मध्य प्रदेश की जनजातियों की संथाल-उड़ांव, मुण्डा, आदि अनेक भाषाएँ हैं, जिनमें (उड़ांव जैसी) कुछ द्रविड़ वंश से संबंध रखती हैं और कुछ आस्ट्रिक वंश से।

-हिन्दी लोक-साहित्य (राहुल निबंधावली) पृ. ६९

राहुल सांकृत्यायन के ये विचार बिलकुल सही हैं। मैथिली के स्वतंत्र भाषा बन जाने के बावजूद उसका लोक साहित्य हिन्दी से अभिन्न है। राहुल जी ने एक प्रश्न उठाया है कि 'हिन्दी की जितनी लोक भाषाएँ हैं, उनके साहित्य को हम लोक साहित्य कह सकते हैं?' इसका आशय यह है कि हिन्दी की हर लोकभाषा का साहित्य अलग है। इसलिए उन्होंने लिखा कि 'यह स्पष्ट है कि लोक साहित्य वही हो सकता है जिसकी भाषा का साहित्यिक रूप हमारी हिन्दी है। राहुल जी का स्पष्ट संकेत खड़ीबोली हिन्दी से है। (वही, पृ. ७२) फिर उन्होंने लिखा है 'लेकिन हमें हिन्दी क्षेत्र की अन्य भाषाओं के लोक साहित्य को भी उसमें गिनना होगा। (वही, पृ. ७०) निस्संदेह 'हिन्दी का लोक साहित्य' से आशय है हिन्दी की सभी लोकभाषाओं का साहित्य। इसमें जनजातीय भाषाएँ भी शामिल हैं। इनमें सभी में मौखिक साहित्य मौजूद है। कुछ लोकभाषाओं में मौखिक परंपरा के अलावा लिखित साहित्य भी है। लेकिन दुर्भाग्य से उसे 'परिनिष्ठित साहित्य' में शामिल नहीं किया जाता है। अवहट्ट तथा ब्रज, अवधी और भोजपुरी (कबीर की भाषा का आधार भोजपुरी ही है) में लिखित कबीर-जायसी, सूर-तुलसी, रहीम-रसखान और देव-बिहारी-घनानंद-पद्माकर आदि के साहित्य के अलावा आधुनिक युग में लिखे इन भाषाओं के साहित्य को 'हिन्दी साहित्य' में शामिल नहीं किया जाता है,

जबकि कुछ आलोचकों ने जनपदीय साहित्य को भी मुख्य धारा के साहित्य में शामिल करने की बात कही है।

अब हम बात करते हैं हिन्दी के गेय काव्य की। निस्संदेह हिन्दी में गेय काव्य की परंपरा सिद्धों से शुरू हुई। इसका यह मतलब नहीं है कि हमारे समाज में सिद्धों से पहले गीत गाने की परंपरा थी ही नहीं। सिद्धों ने जो चर्यागीत लिखे, उनकी पृष्ठभूमि में ज़रूर गेय गीतों की परंपरा रही होगी। लेकिन हिन्दी भाषा की शुरुआत सिद्धों से मानने पर हिन्दी गीतों की परंपरा को भी हमें वहाँ से मानना पड़ेगा। बहुत से सिद्ध संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे, किन्तु उन्होंने तत्कालीन लोकभाषा अपभ्रंश में दोहे और चर्या गीत लिखे। राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है 'मानो सिद्ध होने के लिए कवि होना अनिवार्य था, सो भी देशी भाषा का कवि। मातृभाषा की इनकी कविताएँ दोहा-गीति, वजुगीति या चर्यागीति के नाम से प्रसिद्ध हैं। (वही, पृ. ७०) उन्होंने एक-दूसरे निबंध में लिखा है कि 'सरहपाद ने वह गीति-परंपरा साहित्य में चलाई, जिसका प्रचार आज तक चला जाता है। (वही, पृ. १०४) सिद्धों ने अपने गीतों की रचना वराडी, कामोद, गुर्जरी आदि अनेक रागों में की। उनके दोहे परिनिष्ठित अपभ्रंश और चर्यागीत अवहट्ट में हैं। ये गीत हिन्दी और हिन्दीतर प्रदेशों में ही नहीं, बल्कि भारत से बाहर तिब्बत और नेपाल में भी प्रसिद्ध हुए। कणहपा पंडिताई और कविताई दोनों में बेजोड़ थे। उनके दोहे और गीत पांडित्य के बोझ से दबे नहीं हैं। ब्राह्मणों के थोथे शास्त्र-ज्ञान की खिल्ली उड़ाते हुए उन्होंने लिखा-

आगम वेअ पुराणे पंडित मान वहन्ति।

पक्क सिरीफल अमिय जिम बाहेरित भमयन्ति।।

सिद्धों ने चौपाई की भी रचना की, किन्तु यह लोक-छन्द नहीं बन सकी। निस्संदेह दोहा-चौपाई की उत्पत्ति लोक में हुई, बाद में उसे साहित्य में अपना लिया गया त कबीर के यहाँ रमैनी दोहा-चौपाई में ही है, जिसे सिद्ध और जैन कवि पहले ही सधा चुके थे। इस तरह गेय पद या गीति की परंपरा

सातवीं शताब्दी से शुरू हुई और वह विद्यापति, कबीर, रैदास, सूर, तुलसी और मीराबाई से होती हुई आधुनिक काल में आई। कबीर के यहाँ 'सबद' या 'सबदी' पद ही है त कबीर के यहाँ भी मंगल गान है।

अपभ्रंश का दोहा कबीर आदि से पहले ही प्रौढ़ता को प्राप्त कर चुका था। इसे सिद्धों के यहाँ ही नहीं, बल्कि स्वयंभू, पुष्पदंत और अद्दहाण के यहाँ भी प्रौढ़ रूप में देखा जा सकता है। कबीर के यहाँ लोक का वसंत, चॉचर और हिंडोला भी है। चॉचर 'चर्चरी' नामक नृत्य-गीत है। यह घूम-घूमकर नाचने-गाने वाली शैली है। श्रीहर्ष की 'रत्नावली' और बाणभट्ट की पुस्तकों से चर्चरी गान की सूचना मिलती है। बारहवीं शताब्दी के सोमप्रभ और तेरहवीं शताब्दी के जिनदत्त सूरि ने चर्चरी का उल्लेख किया है त लेकिन चर्चरी का कोई निर्दिष्ट छंद नहीं है।

आधुनिक गीतों का विधान गीति या गेय पदों से थोड़ा भिन्न है। आधुनिक गीतों में जिस तरह टेक और अन्तरा का स्पष्ट विभाजन है, उस तरह उतना स्पष्ट रूप से पदों में नहीं है। अमीर खुसरो के कुछ गीत आज के गीतों जैसे हैं, उदाहरण के लिए 'काहे को ब्याहे बिदेस' को लिया जा सकता है। छायावाद युग में इस तरह के नये गीत लिखे गए। बीती विभावरी जाग री, तुम कनक किरन के अंतराल में, बाँधो न नाव इस ठाँव बन्धु, मैं नीर भरी दुख की बदली आदि गीत इसी तरह के हैं। और ये गीत भी लोक की ही उपज हैं। बाद में ये साहित्य में प्रयुक्त हुए। नामवर सिंह ने 'छायावाद' नामक पुस्तक में लिखा है कि छायावादी कवियों ने आल्हा, कड़खा, लावनी आदि लोकगीतों के आधार पर नये-नये छन्दों की रचना की।

'प्राकृत पैंगलम' चौदहवीं शताब्दी की रचना है। उसमें सिद्धहस्त कवियों की कविताओं के अलावा कुछ लोक कवियों की सूक्तियों और कविताओं का भी संकलन किया गया है। 'प्राकृत पैंगलम' में संग्रहीत ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के किसी लोक कवि की सूक्तियों और लोकानुभव पर आधारित घाघ की काव्यात्मक उक्तियों का मैं उल्लेख करके मुख्य विषय पर आता हूँ त

ऊँची छाजन बि-मल धरा, तरुणी घरनी विनयपरा।
वित्त के पूरल मूँदघरा, वर्षा समया सुखकरा ॥
प्रियभक्त प्रिया गुणवंत सुता त।
धनवंत धरा, बहु सुखकरा।।
पुणा जासु शुद्धा, वधू रूप-मुग्धा।
धरे वित्त जग्गा, मही तासु स्वर्गा ॥

कमल-नयनि, अमिय-वयनि।
तरुणि घरनि, मिलै सुपुणि ॥
गुरुजन भक्तउ, बहुगुण युक्तउ।
जसु जिय पुत्रउ, सोइ गुणवंतउ।
ओगर-भक्ता रम्भा-पत्रा, गाय के घीवा दुग्ध संयुक्ता।
माँगुर-मच्छा नालिय-शाका, दीजै कांता खाइ पुणवंता।

।।
उद्धृत, 'उत्तर प्रदेश के लोकगीत' (राहुल निबंधावली),

पृ. ८५

और घाघ का तुकमय बंद है—
भुइयाँ खेड़े हर हों चार
घर हो गिहथिन गऊ दुधार।
अरहर की दाल जड़हन का भात
गागल निबुआ और घिउ तात।
खाँड़ दही जाँ घर में होय
कहँ घाघ तब सबहीं झूठा
उहाँ छोड़ इहवें बैकुंठा।

इन दोनों के रचनाकाल में लगभग सात सौ साल का अन्तर है। ग्यारहवीं शताब्दी का लोक कवि कह रहा है कि बरसात के दिनों में अगर बारिस से बचाने वाला ऊँची छाजन वाला घर हो, विनीत युवा पत्नी हो, घर धन-धान्य से भरा हो तो वर्षा-काल सुखकर होता है। इसी तरह अगर केले के पत्ते पर परोसा हुआ ओगर का भात हो, साथ में गाय का घी और दूध हो, (पकी हुई) माँगुर मछली और नालिय का साग हो तो क्या कहने! और इन स्वादिष्ट व्यंजनों को पत्नी परोसकर खिलाए तो खाने का स्वाद दुगुना हो जाता है। ऐसा खाना खाने वाला निस्संदेह बहुत भाग्यशाली होगा।

और घाघ कहते हैं कि गाँव के पास चार हल की खेती हो, घर-गृहस्थिन हो, दुधारू गाय हो, खाने में अरहर की दाल, जड़हन का भात, गरम-गरम घी और रसदार नींबू हो, घर में ही शक्कर और दही मिल जाया करे तो समझो बैकुंठ और कहीं नहीं, यहीं पृथ्वी पर ही है; बाकी सब झूठ है।

इन दोनों प्रसंगों में दोनों लोक कवियों ने सुखमय जीवन की कितनी सुन्दर और साधारण परिकल्पना की है! इसके आगे वैभव-विलास वाला असधारण सुख पानी भरे।

हिन्दी के लोकगीतों की परंपरा की जाँच-पड़ताल बहुत कठिन है। आखिर हिन्दी के लोकगीतों की परंपरा की परख कैसे करें? इसे हम दो प्रकार से कर सकते हैं—अन्तःसाक्ष्य के आधार पर और बहिःसाक्ष्य के आधार पर।

अन्तःसाक्ष्य के आधार पर

किसी गीत या साहित्य की किसी विधा के लेखन-काल को जानने के लिए ज़रूरी होता है कि या तो उसमें उसके रचनाकार की छाप (गीतों में भणिता) हो या नाटक के शुरू में लेखक के नाम का निर्देश हो (जैसा कि कालिदास या भारतेन्दु आदि नाटककारों ने नाटक के आरंभ में सूत्रधार से नाटककार के नाम का उल्लेख करवाया है।) या उस गीत का इस्तेमाल किसी मशहूर साहित्यिक कृति में हुआ हो। किसी ऐतिहासिक चरित्र या घटना या समस्या पर आधारित होने से भी किसी गीत के प्रचलन में आने का साक्ष्य मिल सकता है लेकिन दुर्भाग्य से हिन्दी के बहुत सारे गीतों के साथ ऐसा नहीं है। लोकगीत की एक मुख्य पहचान यह बताई जाती है कि उसका कवि अज्ञात होता है। दूसरे शब्दों में लोकगीत किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं, बल्कि सामूहिक रचना होते हैं। इसीलिए किसी किसी लोकगीत के अन्तरे भिन्न होते हैं या उनमें कुछ अन्तरे कम या ज़्यादा होते हैं। 'ई रेलिया बैरन पिया को लिए जाए रे' या 'मिर्जापुर कइला गुलजार हो कचौड़ी गल्ली सून कइला बलमू' गीत इसी तरह के हैं। पूर्वचल में सभी मांगलिक कार्यक्रमों और उत्सवों के आरंभ में गाए जाने वाले देवी गीत पंचरा में भी किंचित भिन्नता दिखाई देती है। तात्पर्य यह है कि अज्ञात कवियों द्वारा रचित लोकगीतों में भणिता के अभाव में कोई अन्तःसाक्ष्य नहीं मिलता जिससे लोकगीतों के रचनाकाल का पता लगाया जा सके। लेकिन गीत का वर्ण्य विषय अगर प्रख्यात हो, वह इतिहास, आन्दोलन, विप्लव, अकाल-महामारी या किसी ज्ञात घटना से जुड़ा हो तो हम उसके आरंभ होने के समय का पता लगा सकते हैं। लेकिन ऐसे गीत प्रायः कम होते हैं। जैसे-

१. लक्ष्मीबाई कहि के निकल पड़ीं मैदान में
दिल्ली के दरम्यान में ना !

२. झंडा तीन रंग क भारत में फहरात बा
देखे में सोहात बा ना।

३. ई रेलिया बैरन पिया को लिए जाए रे !

इसमें पहला गीत १८५७ के प्रथम स्वाधीनता संग्राम के दौरान रचा गया लगता है और दूसरा १९४७ में आज़ादी मिलने के समय का है। संभव है, ये गीत बाद के हों, लेकिन इनकी पृष्ठभूमि से इतना तो पता चलता है कि इनका प्रचलन इन दो महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं से पहले नहीं हुआ है। इसी तरह तीसरा गीत भारत में रेलगाड़ी की शुरुआत के बाद का है। यह भी उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त या बीसवीं

शताब्दी के प्रारंभ में चलन में आया गीत है।

इस तरह के और भी गीत हैं। इस लेख में उनका उल्लेख यथावसर किया जाएगा।

बहिःसाक्ष्य के आधार पर

लोकगीतों में बहुत सी बातें ऐतिहासिक तिथियों, घटनाओं और चरित्रों या आन्दोलनों से संबंधित होती हैं। गीतों में इनके उल्लेख से पता चलता है कि ये गीत या तो उसी समय रचे गए होंगे या इनके आधार पर इनकी रचना बाद में हुई होगी। मैं सात-आठ बिन्दुओं के आधार पर इनकी जाँच-पड़ताल करने की कोशिश करूँगा।

(१) ऐतिहासिक विकास क्रम की दृष्टि से

गीतों का वर्ण्य विषय अगर ऐतिहासिक है तो उससे उन गीतों के रचना-काल का अनुमान लगाया जा सकता है। ऊपर उद्धृत पहले और दूसरे गीत इसी प्रकार के हैं। हिन्दी के मशहूर उपन्यासकार शिवप्रसाद मिश्र रुद्र 'काशिकेय' के प्रसिद्ध उपन्यास 'बहती गंगा' में एक कजरी गीत का इस्तेमाल हुआ है। गीत के बोल हैं 'अरे रामा, नागर नैया जाला कालेपनियाँ रे हरी!' यह गीत १७७२ ई. की घटना पर आधारित है। वारेन हेस्टिंग्स ने इसी वर्ष बनारस को लूट लिया। राजा चेत सिंह की दुर्दशा देखकर जब काशी अचेत होने लगी तो उसके 'नालायक' बेटे, जिन्हें 'गुंडा' कहा जाता था, सचेत हो गए। उन्होंने फिरंगियों के खिलाफ क्रांति का बिगुल फूँक दिया। उन नालायक बेटों में दाताराम नागर और भंगड़ भिक्षुक भी थे। इस प्रसंग का वर्णन रुद्र काशिकेय ने 'बहती गंगा' में किया है। जयशंकर प्रसाद की कहानी 'गुंडा' भी इसी पृष्ठभूमि पर आधारित है, जिसमें बाबू नन्हकू सिंह के शौर्य और बलिदान की कथा कही गई है।

दाताराम नागर ने अंग्रेज़ों के सहायकों की नाक में दम कर रखा था। उसने बनारस के नायब मुंशी फ़ैयाज़ अली के मुहर्रम के जुलूस के दुलदुल के घोड़े को मार गिराया था। अंग्रेज़ों के बल पर फ़ैयाज़ अली ठठेरी बाज़ार की ओर से मुहर्रम के जुलूस का नया रास्ता निकालने की कोशिश कर रहा था। इस घटना के बाद पूरी पलटन उस पर टूट पड़ी। तलवारिया नागर उस समय तो बच निकला, लेकिन बाद में गिरफ्तार हो गया और उसे २० वर्ष के कालेपानी की सज़ा सुनाई गई।

मिर्जापुर में अंग्रेज़ों की ओर से ठेकेदार ऐयाश बनकट मिसिर ने एक प्रतिष्ठित ठाकुर की कुँवारी बेटि का अपहरण करवा कर उसे अपनी रखैल बना लिया था। बनकट को

नागर ने चुनौती दी थी, जिसमें बनकट मारा गया। उस लड़ाई को देखने के लिए चुपके से वह स्त्री भी आई हुई थी। वह चाहती थी कि बनकट मरे तो उसके कलेजे को ठंडक पहुँचे। वहीं पर उसकी मुलाकात नागर से हुई थी और वह उसकी पोषिता बन गई थी। नागर उसे 'सुन्दर' कहकर बुलाता था। उसने मिर्जापुर के नार घाट पर उसके रहने की व्यवस्था की थी। सुन्दर को आत्मनिर्भर बनाने के लिए उसने वहाँ की गौनहारिनों से उसे प्रशिक्षण दिलवाया था।

सुन्दर को जब मालूम हुआ कि नागर को कालेपानी की सज़ा हुई है और उसकी नाव नार घाट से होकर जा रही है तो वह भागते हुए आई और वहीं पर उसने दर्द भरे स्वर में इस गीत को गाया—अरे रामा, नागर नैया जाला कालेपनियाँ रे हरी!

इस साक्ष्य के आधार पर हम इस गीत के समय का निर्धारण कर सकते हैं। यह गीत अठारहवीं शताब्दी के अन्त में रचा गया है।

यहाँ एक मशहूर बिरहा का उल्लेख करना ज़रूरी लगता है, क्योंकि इसमें अतिशय मँहगाई का वर्णन किया गया है। मँहगाई का संबंध किसानों और मजदूरों की 'रोटी' की समस्या से जुड़ा हुआ है। भूखे पेट केवल भजन ही नहीं हो सकता, भूख की वजह से स्त्री-पुरुष अंतरंग संबंध बनाने से भी विरत हो सकते हैं त बिरहा देखिए—

मँहगी के मारे बिरहा बिसरि गइल
भूलि गइलें चइता-कबीर ।
देखि देखि गोरिया क उमड़ल जोबनवाँ
उठे ना करेजवा में पीर ।।

यह बिरहा तुलसी-कालीन समाज में व्याप्त भूख और अकाल से भी जुड़ा हो सकता है और भारतेन्दु युगीन समाज से भी। अकबरकालीन तुलसी ने अपने समय की बदहाली का चित्र खींचते हुए 'कवितावली' में लिखा कि—

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि
बनिक को बनज न चाकर को चाकरी,
जीविका बिहीन लोग सीधमान, सोचबस
कहँ एक एकन सों कहाँ जाई, का करी ?

और उन्नीसवीं शताब्दी के आठवें-नौवें दशक में भारतेन्दु 'नये ज़माने की मुकरी' में लिख रहे थे—

तीन बुलाये तेरह आवें
रोड़ रोड़ बिपदा आप सुनावें,
आँखें फूटी भरा न पेट
क्यों सखि, सज्जन? नहीं ग्रेजुएट ।

उन्नीसवीं शताब्दी में जब पढ़े-लिखे योग्य व्यक्तियों का यह हाल था, तो किसानों-मजदूरों की क्या स्थिति रही होगी?

(२) गीतों में वर्णित ऐतिहासिक चरित्रों के द्वारा

कुछ गीत बहुत लम्बे और कथात्मक होते हैं। इन्हें गाथागीत और युद्ध-काव्य (11) कहा जाता है। इन गीतों में नायक, प्रतिनायक और अन्य कुछ सामान्य चरित्र ऐतिहासिक होते हैं। हिन्दी के 'आल्हखंड और 'बीसलदेव रासो' गेय काव्य हैं, लेकिन हिन्दी प्रदेश में आल्हखंड को जो लोकप्रियता हासिल हुई वह बीसलदेव रासो को नसीब नहीं हुई। आल्हा-ऊदल दोनों भाई थे और परम वीर थे। वे महोबा के राजा परमर्दिदेव (परमाल) के वीर सरदार थे। उन्होंने परमाल के लिए अनेक लड़ाइयाँ लड़ीं। उनके इन कारनामों को परमाल के दरबारी कवि जगनिक ने ओजस्वी स्वर में लिखा। यह इतना लोकप्रिय हुआ कि गायन की इस शैली का नाम ही 'आल्हा' पड़ गया। जगनिक ११७३ ई. में मौजूद थे। उन्होंने आल्हखंड में छोटी-बड़ी ५२ लड़ाइयों का वर्णन किया है। इस कृति का मूल रूप सुरक्षित नहीं रहा, लेकिन यह लोककंठ में जीवित रही। इसीलिए समय-समय पर इसमें बदलाव होते रहे। इसकी भाषा बिलकुल बदल गई। १८६५ ई. में फरूखाबाद के तत्कालीन जिलाधीश चार्ल्स इलियट ने अनेक भाटों की मदद से इसे लिपिबद्ध कराया। आल्हा बुंदेली, बैसवाड़ी, पूरबी, अवधी और कौरवी-हरियाणवी में गाया जाता है। उसमें वर्णित युद्ध का एक उदाहरण देखिए—

अररर गोला छूटन लागे
सर सर तीर रहे सनाय ।
गोला लागै जेहि हाथी के
मानो चोर सेंध है जाय ।
गोला लागे जौन ऊँट के
सो गिरि परै चकत्ता खाय ।
खट खट खट खट तेगा बोलै
बोलै छपक छपक तलवार ।
चलै जुनबी औ गुजराती
ऊना चलै बिलायत क्यार ।
तेगा चमकै बर्दवान कै
कटि कटि गिरै सुघरवा ज्वान ।

आधुनिक युग में दूसरे विषयों पर भी आल्हा लिखे गए हैं त उनमें किसी किसी में दोहा-चौपाई छंद का भी प्रयोग किया गया है।

(३) कुछ कवियों की मशहूर कविताओं के द्वारा

हिन्दी के कुछ ऐसे कवि हैं जो लोक में बहुत प्रतिष्ठित हैं। लोक में उनकी प्रतिष्ठा का कारण उनकी लोक-संवेदना है। इसीलिए वे लोक-कंठ में बसे हुए हैं। कबीर, सूर, तुलसी, जायसी, मीरा और रैदास की प्रसिद्धि का यही कारण है। इससे पूर्व अमीर खुसरो और विद्यापति के कुछ गीतों को यह सम्मान मिला था। अमीर खुसरो का समय है १२५३-१३२५ ई.। उनका मशहूर गीत 'काहे को ब्याहे बिदेस अरे लखिया बाबुल मोरे' सामान्य लोक में बहुप्रचलित है। इसमें बेटियों की संवेदना को व्यक्त किया गया है और पितृसत्तात्मक समाज में बेटे और बेटे में फर्क की मानसिकता को दिखाया गया है। इसके अलावा 'छाप तिलक सब छीनी रे मोसे नैना मिलाय के' नामक उनका एक और गीत सूफ़ी दरगाहों में और दूसरी जगहों पर आज भी गाया जाता है। इसी तरह विद्यापति के कुछ गीत भी लोक-समाज में अत्यंत लोकप्रिय हैं। उनका समय १३६०-१४४८ ई. है। कखन हरब दुख मोर हे भोलानाथ, पिआ मोर बालक हम तरुनी, जै जै भैरवि असुर भयाउनि और मोरे रे आँगना चनन केरी गछिया जैसे गीतों को छोड़ दें तो शिव और पार्वती से संबंधित गृहस्थ जीवन वाले गीतों में से कुछ गीत खुसरो के 'काहे को ब्याहे बिदेस' गीत से कम दर्दनाक नहीं हैं। मैना जब कहती हैं कि यदि मेरा दामाद बूढ़ा होगा तो मैं इस घर का परित्याग कर दूँगी और पार्वती को लेकर कहीं चली जाऊँगी-हम नहि आजु रहब एहि आँगन, जँ बुढ़ होएत जमाए, गे माइ। डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने 'लोक साहित्य की भूमिका' में एक भोजपुरी गीत की चार पंक्तियाँ उद्धृत की हैं, जो विद्यापति के इसी गीत से मिलती-जुलती हैं त उस गीत में भी मैना की तरह एक स्त्री बेटे के वर के बूढ़े होने की स्थिति में किसी कुएँ-तालाब में डूबकर मर जाने की बात कहती है। गीत की उन पंक्तियों को देखिए-

धिया लेके उड़बै धिया लेके बुड़बै
धिया लेके जड़बै पताल,
अइसने तपसिया से गउरा ना ब्याहब
बलु रहिहैं गउरा कुँवार ।।

बहुत संभव है कि ये गीत लोक में अनगढ़ रूप में मौजूद रहे हों, जिन्हें खुसरो और विद्यापति ने थोड़ा और कलात्मक ढंग से व्यक्त कर दिया हो। लेकिन संभावना तो इसी बात की है कि लोक ने खुसरो और विद्यापति के इन गीतों को अपने रंग में ढाल दिया हो। साहित्यिक गीतों का लोककरण उसी तरह संभव है जैसे लोकगीतों का साहित्यीकरण। लेकिन इससे यह बात तो स्पष्ट होती ही है कि ये सभी गीत

तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी से बहुत पहले के नहीं हैं।

कबीर के निर्गुण पदों की लोकव्याप्ति जगजाहिर है। कबीर ने सिद्धों में प्रचलित दोहा, चर्यागीत और चौपाई को अपना कर साखी, सबदी और रमैनी की रचना की थी। दूसरे शब्दों में कबीर ने सिद्धों के काव्य-रूपों में अपने विचार व्यक्त किए थे। संसार की असारता और नश्वरता तथा जीव और ब्रह्म के आपसी संबंधों को व्यक्त करने वाले निर्गुण पद तो लोक-कंठ का हार बने ही, उनके पदों के आधार पर परवर्ती लोक-समाज ने भी निर्गुण गीतों की रचना की, जिसे उस लोक ने निर्गुण कहा। अर्थात् निर्गुण गीत की एक शैली हो गया, जिसका अर्थ लोक-समाज ने मृत्यु-गीत लिया। इस तरह के निर्गुण गीत आज भी रचे जा रहे हैं। 'भँवरवा के तोहरा संग जाई' और 'अबहीं उमर मोरी बारी रे सखि, आई गवनवाँ की सारी' लोक के सर्वाधिक लोकप्रिय निर्गुण हैं। इस तरह के निर्गुण अनेक बोलियों में गाये जाते हैं। उनकी शैलियाँ अलग-अलग हैं। पूर्वांचल की शैली अलग है और मालवा की अलग। मध्य प्रदेश के 'कर्मा' गीतों की शैली में प्रचलित निर्गुण का अलग ही रंग है। कबीर का समय है १३९८-१५१८ ई. त इसका आशय यह है कि हिन्दी में प्रचलित निर्गुण गीतों की परंपरा कबीर से पहले की नहीं है। यहाँ एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि लोक में निर्गुण गीतों की लोकप्रियता कबीर के कारण है, बाकी संतों का प्रभाव अत्यल्प है त कुछ प्रमुख संतों के कारण उनके क्षेत्रों में उनके प्रभाव से निर्गुण भजन जरूर प्रचलित हुए होंगे।

(४) किसी विशेष चरित्र के आधार पर

किसी-किसी गीत में किसी प्रसिद्ध व्यक्ति का उल्लेख होता है या पूरा गीत उसी पर केन्द्रित होता है। स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान लिखे गए अनेक गीतों में महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, सुभाष चन्द्र बोस, चन्द्रशेखर आज़ाद, भगतसिंह आदि का उल्लेख हुआ है, जैसे-गाँधी क आइल जमाना, देवर जेलखाना में गइलें त स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान लक्ष्मीबाई और वीर कुँवर सिंह पर अनेक गीत लिखे गए। आधुनिक भारत के ये नये नायक थे। इनके शौर्य और इनकी कीर्ति को लोक ने मुक्त कंठ से सराहा। इसी तरह लोक ने आल्हा-ऊदल और लोरिक-चन्दा की वीरता और उनके लोकरक्षक रूप के साथ उनके प्रेम को स्वर दिया। राजस्थानी लोक ने ढोला-मारु और नवलदे की प्रेम कहानी को गाया त ढोला-मारु की प्रेम कहानी को पहले पहल कल्लोल कवि ने दोहों में लिखा था।

आल्हा-ऊदल के बारे में पहले लिखा जा चुका है, इसलिए यहाँ सिर्फ लोरिक-चन्दा और ढोला-मारू की चर्चा की जाएगी।

लोरिकी यादवों का जाति गीत है। वीर लोरिक पूर्वी उत्तर प्रदेश की अहीर जाति की दंतकथा का एक दिव्य चरित्र है। डॉ. श्याम मनोहर पांडेय ने इसे भारत के अहीर कृषक वर्ग का राष्ट्रीय महाकाव्य कहा है। लोरिक की कथा भोजपुरी भाषा की एक नीति-कथा है। इसे अहीर जाति की रामायण का दर्जा दिया जाता है। लोरिक सतयुग का चरित्र है। लोरिक का जन्म बलिया (उ.प्र.) के गउरा गाँव में हुआ था। वे क्षत्रिय यदुवंशी घराने के थे। लोरिक राजा भोज के वंशज माने जाते हैं। लोरिक का संबंध सोन नदी के किनारे (सोनभद्र) अगोरी से भी है। लोरिक की पत्नी मंजरी थी और चन्दा उसकी प्रेमिका। इस तरह 'लोरिकी', 'लोरिकायन' या 'चनैनी' नामों से प्रसिद्ध लोरिक-चन्दा की प्रेम कथा एक लोकगाथा है। श्याम मनोहर पांडेय ने इसे 'लोक महाकाव्य' कहा है। कुछ घटनाओं के हेरफेर से इस कथा को उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखंड, मध्य प्रदेश और बंगाल में गाया जाता है। बांगला में इसका नाम 'लोर चन्द्रानी' है। इसमें लोरिक के प्रेम और लोकरक्षक रूप को प्रमुखता दी गई है। लोरिक-चन्दा की इसी प्रेमकथा को लेकर मुल्ला दाउद ने 'चांदायन' नाम से हिन्दी का पहला प्रेमाख्यान लिखा था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'पुनर्नवा' नामक उपन्यास इसी लोकगाथा पर आधारित है।

छत्तीसगढ़ के यादवों में बाँस गीत लोकप्रिय है। ये बाँस गीत किसी विशेष अवसर पर गाए जाते हैं। जिला बिलासपुर के केकसी गाँव के श्री भीखम यादव ने बताया कि इस बाँस गीत में गायक लोरिक-चन्दा की कथा को गाते हैं।

लोरिकी एक कथात्मक गीत है। लोकगायक इसके एक प्रसंग को 'चौकी' कहते हैं। किसी एक घटना या प्रसंग के अन्त में गायक खड़ी बिरहा गाते हैं। खड़ी बिरहा यानी चरकड़िया मुक्तक। यह भी अहीरों का जाति गीत है। एक उदाहरण देखिए—

राम भइलें जोगिया लखन बैरगिया

दोनों भइया हो गइलें फकीर।

गरवा में डाल के तुमड़ी-तड़किया

माँगलें अजोधिया में भीख।

खड़ी बिरहा का संबंध 'दोहा' से है। इसका उल्लेख बिरहा वाले प्रकरण में किया जाएगा।

लोरिक का संबंध राजा भोज से है, जिन्होंने १०६७-

११०६ तक राज किया। इसका अभिप्राय यह है कि लोरिकी नामक इस लोकगाथा की शुरुआत दसवीं शताब्दी से पहले ही हो गई थी। समय और क्षेत्र के हिसाब से इसकी भाषा में बदलाव होता रहा है।

ढोला-मारू-रा-दूहा राजस्थान की प्रसिद्ध लोकगाथा है। राहुल संकृत्यायन ने लिखा है कि 'ढोला-मारू-रा-दूहा' का सबसे पुराना लिपिबद्ध रूप मारवाड़ी में मिलता है। लेकिन पंजाबी और कौरवी वाले भी उसे अपना पँवाड़ा मानते हैं। (राहुल निबंधावली, पृ. ७२) 'पँवाड़ा' शब्द का प्रयोग 'लोकगाथा' के लिए किया जाता है। महाराष्ट्र में इसे पाँवड़ा, गुजरात में कथागीत और राजस्थान में गीतकथा कहते हैं। 'ढोला-मारू-रा-दूहा' का कवि अज्ञात है। कुछ लोग इसे कल्लोल कवि की कृति मानते हैं। बारहवीं शताब्दी में रचित यह लोकगाथा शुद्ध रूप से लौकिक साहित्य के अंतर्गत आती है। कल्लोल ने इस कथात्मक गीत को दोहे जैसे मुक्तक छन्द में लिखा था। यह इतना लोकप्रिय गेय काव्य था कि धीरे-धीरे लोककंठ में बस गया। लोक में जाकर न केवल इसकी भाषा बदलती रही, बल्कि बीच-बीच से इसके कुछ दोहे भी गायब हो गए। इसी से सत्रहवीं शताब्दी में जैन कवि कुशललाभ ने बीच-बीच में चौपाइयाँ जोड़ कर टूटे हुए इसके कथा-सूत्रों को जोड़ा और उसे व्यवस्थित किया।

'ढोला-मारू-रा-दूहा' कछवाहा वंश के राजा नल के पुत्र ढोला और पूगल के राजा पिंगल की कन्या मारवड़ी की प्रेमकथा है। ढोला का एक नाम साल्हकुमार भी है। ढोला की उम्र जब तीन साल की और मारवड़ी की डेढ़ साल की थी तभी दोनों का विवाह कर दिया गया था। ढोला के जवान होने पर मारवाड़ के दूर होने और वहाँ जाने के रास्ते विकट होने के कारण नल ने उसका विवाह मालवा की राजकुमारी मालवणी से कर दिया। जवान होने पर मारवड़ी को जब अपने विवाहित होने की बात मालूम हुई तो उसने ढाढ़ियों से अपने पति के पास संदेश भेजा। लेकिन वे सफल नहीं हुए। मालवणी ने उन्हें मरवा दिया। कई प्रयास के बाद ढाढ़ियों को अपने कार्य में सफलता मिली। मारवड़ी से बचपन में अपने विवाह की बात सुनकर ढोला उसके पास जाने के लिए तैयार हुआ, किन्तु मालवणी ने उसे बहाने से रोक लिया। कुछ दिन रुककर ढोला पूगल के लिए चल पड़ा और रास्ते की बाधाओं को पार करते हुए वहाँ पहुँचा। मारवड़ी को लेकर वह अपने घर आ गया। इस गाथागीत में मारवड़ी और ढोला के मिलन में खलनायक ऊमर शूमरा के व्यवधान डालने का भी वर्णन है। इसमें लेखक ने मारवड़ी और मालवणी के

विरह का भी सरस वर्णन किया है एक दोहा देखिए जिसमें मारवड़ी कह रही है कि पति के वियोग में वह रात भर रोती रही। अपनी चुनरी से वह बार-बार आँसू पोंछती रही। आँसुओं से चुनरी बार-बार भींग जाती थी। मारवड़ी को उसे बार-बार निचोड़ना पड़ता था। इस तरह रात भर चुनरी निचोड़ते-निचोड़ते उसके हाथों में छाले पड़ गए-

रात ज रूनी निसह भरि, सुणी महाजन लोइ ।
हाथां री छाला पड्या चीर निचोइ निचोइ ॥
इसमें कवि ने प्रेम को परिभाषित करते हुए लिखा है-
अकथ कहाणी प्रेम कूँ किण सूँ कही न जाइ ।
गूँगे का सुपना भया, सुमरि सुमरि पिछताइ ॥

बारहवीं शताब्दी से लेकर आज तक यह लोकगाथा राजस्थानी लोक में प्रचलित है। कल्लोल कवि ने ढोला-मारु की प्रेम कहानी को अपने दोहों में अमर कर दिया और राजस्थान की जनता ने अपने दिल में जगह देकर इसे ज़िन्दा रखा। 'ढोला-मारु-रा-दूहा' के बारे में एक दोहा प्रसिद्ध है-
सोरठियो दूहो भलो, भलि मरवण री बात ।
जोबन छाई धण भली, तारौं छाई रात ॥
बारहवीं शताब्दी की यह रचना आज भी राजस्थानी लोक में गाई जाती है।

(५) गीत की शैलियों और छन्द के आधार पर हिन्दी के गीतों की कई ऐसी शैलियाँ हैं जो बेहद लोकप्रिय हैं त इनका प्रयोग कब और कहाँ शुरू हुआ, यह कहना कठिन है त लेकिन साहित्यिक कृतियों में इनके प्रयोग के आधार पर हम उनके प्रचलित होने के समय का निर्धारण कर सकते हैं त बारहमासा, गारी गीत, सोहर और कजरी के बारे में ठीक-ठीक बता पाना मुश्किल है कि लोक में इनका गायन कब से शुरू हुआ।

बारहमासा हिन्दी का एक विशिष्ट गीत है। गीत की यह विशिष्ट शैली संस्कृत में नहीं है। संस्कृत में ऋतु वर्णन तो खूब हुआ है, किन्तु वहाँ बारहमासा नहीं है तो क्या गीत की यह शैली पालि और प्राकृत की देन है? नहीं, बारहमासा वहाँ भी नहीं है। यह विशुद्ध रूप से अपभ्रंश की देन है। पहली बार इसका प्रयोग जैन कवियों ने किया। 'नेमिनाथ चौपई' में बारहमासा शैली दिखाई देती है। इसके बाद नरपति नाल्ह ने 'बीसलदेव रासो' में इस शैली का प्रयोग किया। डॉ. नगेन्द्र द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में इसका रचनाकाल ११५५ ई. दिया हुआ है, जबकि डॉ. बच्चन सिंह ने लिखा है कि नरपति नाल्ह ने १०१९ ई. में

इसकी रचना आरंभ की थी। जो भी हो, इससे इतना तो पता चलता ही है कि लोक में बारहमासा शैली का प्रयोग इन कृतियों से पहले हो गया था। लोक कवियों ने संस्कृत कवियों की संयोग श्रृंगारमूलक अभिवृत्ति के समानांतर स्त्रियों की बारहों महीने की व्यथा को दर्शाने के लिए एक नायाब गीत शैली को ईजाद किया। आगे चलकर विद्यापति ने भी लोकगीत की इस शैली में पद लिखा-

मोर पिअतम सखि गेल दुर देस ।

जौबन दए गेल साल सनेस ॥

लेकिन सूफ़ी कवियों ने बारहमासा को लोकप्रिय बना दिया।

बारहमासा का प्रयोग दो तरह से होता है। पहला, प्रबंध काव्य में विरहिणी की व्यथा का विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन और दूसरा, गीतों में संक्षेप में स्त्रियों की व्यथा का सामान्य चित्रण। नरपति नाल्ह और सूफ़ी कवियों ने स्त्री की पीड़ा को प्रसंगात विस्तार से लिखा है, जबकि विद्यापति ने एक गीत में संक्षेप में वर्णन किया है। संक्षेप वाली प्रवृत्ति लोक की है। लोक के बारहमासे अधिकतर पन्द्रह-बीस पंक्तियों के होते हैं। बारहमासा शैली के एक लोकगीत की कुछ पंक्तियाँ देखिए-

असाढ़ महिन्ना चमाचम चमके

झमझम बरसे सवनवाँ ना,

भादों माह भयावन लागे

झर झर झरे नयनवाँ ना ।

कुवार महिन्ना जिया घबराये

हरि क सुनली सपनवाँ ना,

चढ़तै जेठ पिया मोर अइलै

हरि से भइलै मिलनवाँ ना ।

बारहमासा भारत के अनेक राज्यों में गाया जाता है त गुजराती के लोकमर्मज्ञ झबेर चन्द्र मेघाणी ने अपनी पुस्तक 'ऋतुगीत' में विभिन्न प्रान्तों के बारहमासों का तुलनात्मक विवेचन किया है त डॉ. श्याम मनोहर पांडेय ने अपने एक लेख 'बारहमासा इन कनाडियन एंड फोक ट्रेडीशंस' में बताया है कि बारहमासा कनाडा के लोकगीतों में भी पाया जाता है।

गारी गीत भी एक तरह का लोकगीत है। शादी-ब्याह में बरच्छा और तिलक के अवसर पर वर पक्ष की स्त्रियाँ कन्या पक्ष के पुरुषों को और विवाह के दिन परिछन से लेकर विदाई तक कन्या पक्ष की स्त्रियाँ वर पक्ष के पुरुषों को गीत के द्वारा जो गारी गाती हैं उन्हें ही गारी गीत कहा जाता है।

गारी (गाली) कोई अच्छी चीज़ नहीं है, लेकिन विवाहादि अवसरों पर इसका गायन बुरा नहीं माना जाता है। कवि वृन्द ने लिखा है—

फीकी पै नीकी लगै कहिए समय बिचारि ।
सबको मन हरषित करै ज्यों बिबाह में गारि ।।

गाली का पहला प्रयोग तुलसीदास की 'दोहावली' में दिखाई देता है। उसमें उन्होंने बताया है कि गाली प्रेम और वैर की जननी है। फिर उन्होंने 'रामचरिमानस' के बालकांड में शिव-पार्वती के विवाह के अवसर पर भोजन करते देवताओं को स्त्रियों द्वारा गारी गीत गाए जाने का उल्लेख किया है। रामचरितमानस में ही राम-सीता के विवाह के अवसर पर जेवनार के समय मिथिला की स्त्रियों द्वारा दशरथ सहित सभी बारातियों को गारी देने और बारातियों के हँसकर भोजन करने का उल्लेख हुआ है। 'रामलला नहछू' में भी नउनियाँ द्वारा प्रमुदित मन से 'रनिवास' को गारी देने का जिक्र हुआ है। तुलसीदास के समकालीन केशवदास ने 'रामचंद्रिका' में राम-सीता-विवाह के अवसर पर न केवल स्त्रियों द्वारा गालियों की वर्षा करने का उल्लेख किया है, बल्कि उन्होंने गारी गीत की रचना भी कर डाली है। कहते हैं, इस गारी गीत को केशव के आग्रह पर उनकी प्रेमिका राय प्रवीण ने लिखा था त उसका एक छंद देखिए—

अब गारि तुम कहँ देहिँ हम कहि कहा दूलह राम
जू ।

कछु बाप प्रियपरदार सुनियत करी कहत कुबाम
जू ।

को गनै कितने पुरुष कीन्हें कहत सब संसार जू ।
सुनि कुँवर चित दै बरनि ताको कहिय सब ब्यौहार जू
।।

तुलसी और केशव से पहले जायसी ने रत्नसेन-पद्मावती के विवाह के अवसर पर गारी गीत गाए जाने का उल्लेख नहीं किया है। वाल्मीकि 'रामायण' में राम-सीता-विवाह के अवसर पर स्त्रियाँ गारी गीत नहीं गाती हैं। वहाँ गंधर्व और अप्सराएं नृत्य करते हैं और मंगल गान करते हैं। कबीर पंथ की सतनामी शाखा के संतों में गारी गीत गाए जाने का रिवाज़ है। भंडारे में समूह में भोजन करने से पहले वे गारी गीत गाते हैं, तब भोजन ग्रहण करते हैं। एक उदाहरण देखिए—

चित चेत रे चेत गँवार
अरे भँडुआ चेत करो ।

पंजाब में भी विवाह के समय गारी गीत गाए जाने की परंपरा है। श्रद्धाराम फिल्लौरी ने 'भाग्यवती' में गारी गीतों

को बंद किए जाने की पुरज़ोर वकालत की थी। संस्कृत के विद्वान प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी के अनुसार संस्कृत साहित्य में गालियों की चर्चा हुई है।

इसका तात्पर्य यह है कि गारी गीत की परंपरा बहुत पुरानी है। तुलसी और केशव के पूर्व गारी गीत लोक में प्रचलित थे, जिसका उन्होंने अपनी कविताओं में उल्लेख किया है।

सोहर भी गीत की एक लोकप्रिय शैली है। यह उल्लास का गीत है, किन्तु खुशी और उल्लास के समय स्त्रियाँ अपनी प्रसवकालीन पीड़ा के साथ-साथ संतानोत्पत्ति में अक्षम स्त्रियों के दुःख को भी गाती हैं। स्त्रियाँ बधाई गाती हैं। लेकिन उल्लसित स्त्रियों के इस गीत-गान में लैंगिक भेदभाव रहा है। यह गीत केवल पुत्र जन्म पर गाया जाता रहा है, किन्तु यह परंपरा अब टूट रही है। नये कुआँ के पूजन के अवसर पर भी सोहर गीत गाए जाते रहे हैं। एकाध सोहर गीत सामंती सोच के विरोध में हैं। अवधी का मशहूर सोहर गीत 'छापक पेड़ छिउलिया' इसी तरह का है त एक सोहर गीत के प्रारंभिक अंश देखिए—

कहवाँ से आवेले पियरिया, पियरिया लागल झालर
हो?

कहवाँ से आवेला सिन्होरवा, सिन्होरवा भरल सेन्हुर
हो ।

नइहरे से आवेले पियरिया, पियरिया लागल झालर हो
।

ससुरे से आवेला सिन्होरवा, सिन्होरवा भरल सेन्हुर हो
।

हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'तुलसीदास ने अपने समय तक प्रचलित अनेक काव्यरूपों का प्रयोग किया है, उसमें सोहर छंद भी है। (हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ. १०९) इससे स्पष्ट है कि पुत्र-जन्म पर उत्तर भारत में गाया जाने वाला सोहर गीत तुलसीदास के पहले से लोक में प्रचलित रहा है। गीत की यह शैली तुलसी से दो-तीन शताब्दी पहले से अस्तित्व में आ चुकी थी। सूरदास के यहाँ भी सोहर गाने का जिक्र है। तुलसीदास ने तो पूरा का पूरा 'रामललानहछू' इसी गीत शैली में लिखा है। इस कविता का पहला छन्द देखिए—

आदि सारदा गनपति गौरि मनाइय हो ।

रामलला कर नहछू गाइ सुनाइय हो ।

जेहि गाये सिधि होय परम निधि पाइय हो ।

कोटि जनम कर पातक दूरि सो जाइय हो ।

अन्य गीतों की तरह सोहर की भी एक विशिष्ट धुन होती है, लेकिन मथुरा क्या, समूचे ब्रजमंडल में कृष्ण जन्म के अवसर पर गाए जाने वाले सोहर गीत की धुन अलग होती है। 'जसोदा जायो ललना मैं बेदन में सुनि आई' और 'लल्ला की सुन के मैं आई जसोदा माई ले लो बधाई' सोहर और बधावा गीत ही हैं।

कजरी पावस गीत है। हिन्दी भाषी क्षेत्रों में अलग-अलग तरह के पावस गीत गाए जाते हैं। पूर्वी उतर प्रदेश और बिहार में कजरी गाई जाती है और ब्रज मंडल में मल्हार। मल्हार मूलतः झूला गीत है। मिर्जापुर की कजरी सर्वाधिक मशहूर है। कहा भी गया है—लीला रामनगर की भारी, कजरी मिर्जापुर सरनाम। मिर्जापुर में कजरी के दंगल हुआ करते थे। कजरी के कई रूप और दर्जन-भर से अधिक धुनें हैं। दुनमुनियाँ और चौलर दो विशेष धुन वाली कजरियाँ हैं, लेकिन सामान्य लोग इन्हें कम गाते हैं। स्त्रियों द्वारा गाई जाने वाली एक विशेष धुन की कजरी भी है, जिसके अन्त में 'ए हरी' या 'रे हरी' का प्रयोग किया जाता है।

कजरी की शुरुआत कब हुई, इसे ठीक-ठीक बता पाना संभव नहीं है। कुछ विद्वानों का मानना है कि इसकी शुरुआत दादू राय के समय में हुई। उनके राज्य में कदली या कज्जल नाम का एक वन था। उसके नाम पर ही इस पावस गीत का नामकरण हुआ। एक मान्यता यह भी है कि सावन और भादों के महीने में गाये जाने के कारण इसका नाम कजरी पड़ा। लेकिन इनसे इस गीत के आरंभ होने के वर्ष या समय का कोई बोध नहीं होता है।

कजरी की शुरुआत चाहे जब हुई हो, मगर निस्संदेह यह गीत बहुत पुराना है। लोक-समाज में कजरी इतना मशहूर रही है कि भारतेन्दु ने अपने 'जातीय संगीत' नामक लेख में लिखा कि कवियों को चाहिए कि वे कजरी, चैता, बिरहा, ठुमरी की धुनों के आधार पर जनता को जागृत करने वाले नये तरह के गीत लिखें और उनकी छोटी-छोटी पुस्तिकाएं छपवा कर बाँटें। उनके आह्वान पर बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने जन-जागरूकतापरक बहुत सारी कजरियाँ लिखीं, जो उनकी पुस्तक 'कजली कादम्बिनी' में संकलित हैं।

(६) जातीय-धार्मिक आधार पर

लोक साहित्य के अध्येताओं ने जाति गीत को लोकगीतों का एक प्रकार माना है त जाति गीतों में अधिकांश गीत दलित और पिछड़ी जातियों से संबंधित हैं। अहीरों के जाति गीत बिरहा और लोरिकी, धोबी गीत, कहँरउवा गीत, गोंडू गीत

आदि श्रम से भी जुड़े हैं। इन गीतों की अपनी विशेष धुनें हैं। ये गीत श्रम करते हुए भी गाए जाते हैं और विवाह आदि किसी विशेष अवसर पर भी। लेकिन इन गीतों के आरंभ होने के समय का कोई प्रमाण नहीं मिलता है। बहुत संभव है, इनकी शुरुआत श्रम विभाजन और जाति विभाजन के साथ हुई होगी। बिरहा और लोरिकी के आरंभ होने के प्रमाण तो मिलते हैं, लेकिन शेष जाति गीतों के नहीं। फिर भी यह बात तय है कि हिन्दी के जाति गीत हिन्दी भाषा के अस्तित्व में आने से पहले के हैं। कहँरउवा गीत का एक उदाहरण देखिए—

बदनाम हो कजरवा !

गड़िया के टुटले रोवेला गाड़ीवनवाँ

बँसुला के टुटले लोहार, (हाय हाय!)

जोबना के ढील से रोवेले कसबिनियाँ

बिगरि गइल रोजगार त हो कजरवा....

इन जाति गीतों की तरह कुछ जातियों के अपने आनुष्ठानिक गीत और मन्त्र भी रहे हैं, जिनका इस्तेमाल वे गाहे-ब-गाहे करते रहे हैं त अपने इष्ट देव या देवी की पूजा के समय इनका विशेष गायन या खास ढंग से उच्चारण किया जाता रहा है।

गीत केवल हर्ष और उल्लास के समय ही नहीं गाए जाते, बल्कि दुःख के समय भी गीत गाने का रिवाज़ रहा है। ऐसे गीतों को शोक गीत कहा जाता है। हिन्दी लोक-समाज में शोक गीत गाने का चलन बहुत कम रहा है। कुछ लोगों ने आत्मीय की मृत्यु पर औरतों के बैन करके रोने को शोक गीत मान लिया है। राजस्थान में यह काम रुदालियाँ करती रही हैं। ये रुदालियाँ पेशेवर हुआ करती थीं। इसी तरह मुड़िया जनजाति का गीत 'घोटुल पाटा' शोकगीत ही है। यह गीत किसी की मृत्यु पर गाया जाता है। लेकिन हिन्दी क्षेत्र के मुसलमानों में शोक गीत गाने की प्रथा रही है। इन्हें दाहा गीत और नौहा कहा जाता है।

नौहा और दाहा गीत शोक गीत हैं। इनका संबंध कर्बला की लड़ाई और उसमें शहीद हुए इमाम हुसैन से है। उस युद्ध में इमाम हुसैन सहित ७२ लोगों की बर्बरतापूर्वक हत्या कर दी गई थी। दमिश्क के राजा यजीद के सेनापति शिमर ज़िल जौशन ने इमाम हुसैन की हत्या की थी। कर्बला कूफ़ा में है। कूफ़ा इराक में एक राज्य था।

अरब-ईरान में ताज़िया का रिवाज़ नहीं है। ईरान में मोहरर्म का प्रचलन नहीं है। मर्सिया भी शोक गीत है, लेकिन दकनी में मर्सिया नहीं है। मर्सिया का केंद्र लखनऊ

था तदबीर और अनीस मर्सिया के बड़े शायर थे त मर्सिया भी नौहा की तरह लोक की उपज है त यह लोक से साहित्य में गया है त मर्सिया, नौहा और दाहा शुद्ध रूप से उत्तर भारतीय मुसलमानों की देन हैं त यह मुसलमानों की सामाजिक-सांस्कृतिक परंपरा है त इसलिए इन पर भारतीयता की छाप है त एक उदाहरण देखिए-

अपराधी ने अपराध किया सर राम भजन में काट लिया त

भक्ती में भक्त का रक्त बहा सुखमंडल सारा लूट लिया त

ऐ सूरजरूपी चन्द्र मोहन बतलाओ करूँ अब कौन जतन?
मशहूर कवि-कथाकार अब्दुल बिस्मिल्लाह ने इसे करमा बाजार, बलापुर की स्त्रियों से सुनकर लिखा था त
रूप कुमारी ने भी मर्सियों की रचना की थी त मर्सिया में बैत का भी इस्तेमाल होता है त बैत दोहे की शकल में होते हैं त

दाहा का मतलब है दस दिनों तक या दसवें दिन गाया जाने वाला शोक गीत त 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' में दो-तीन दाहों का प्रयोग किया गया है त ये दाहे बिलकुल लोक वाले हैं त उदाहरण स्वरूप एक दाहा देखिए-

तूँ त चल्य सइयद रन कइ लइइया, जंगल कइ लइइया
सुघरी रनियवाँ के के सौँपेउ हो?
सुघरी रनियवाँ रानी तोहई के सौँपब-तोहई के सौँपब
रनिया महल भीतर राखब रे त
तूँ त चल्य सइयद रन कइ लइइया, जंगल कइ लइइया
तोहरी सूरत कइसे बिसरे हो?

हमरी सूरतिया दादी अठई के देखेय-नवई के देखेय
दसई सहीद होई जाबै रे त

जौने हसन के मैं दुधवा से पालेवँ-मलिदवा से पालेवँ
उन्हीं के सुरतिया कइसे बिसरे हो?

ध्यान देने की बात है कि कर्बला में इमाम हुसैन शहीद हुए थे, इमाम हसन नहीं त उन्हें तो ज़हर देकर मारा गया था त लोक में इतना परिवर्तन स्वाभाविक है त

इन नौहा और दाहा गीतों से स्पष्ट है कि उत्तर भारतीय मुसलमानों में गाए जाने वाले इन शोक गीतों की परंपरा दसवीं शताब्दी के बाद शुरू हुई है त

(७) आविष्कारों के आधार पर

जीवन में इस्तेमाल होने वाली अनेक वस्तुओं का आविष्कार आधुनिक युग में हुआ त उनमें घड़ी, साइकिल,

रेलगाड़ी, हवाई जहाज और पेट्रोमेक्स मुख्य हैं त १६५० ई. तक यूरोप के लोग जब में घड़ी लेकर घूमने लगे थे त साइकिल का आविष्कार १४१८ ई. में हुआ त भारत में आज़ादी के बाद १९६० में साइकिल प्रचलन में आई त भारत में घड़ी और साइकिल के लोकप्रिय होने के बाद ही उससे संबंधित गीतों की रचना हुई त वास्तव में सामान्य लोगों की पहुँच में आने के बाद ही नई वस्तुएं लोकगीतों में प्रयुक्त होती हैं त इन गीतों पर एक नज़र डालिए-

जब घड़िया बजावे साढ़े चार

तू नदिया के पार अइहा त

सड़किलिया पे होके सवार

तू नदिया के पार अइहा त

या कि

हमके मेहदी लिआ दा मोतीझील से

जाके सायकील से ना त

इसी तरह उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेज़ों ने अपनी सुविधा के लिए रेल चलाई त संभवतः बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में इसमें सामान्य लोगों ने यात्रा करना शुरू किया त और जब रेलगाड़ियों से गाँव-देहात के किसान-मजदूर रेलों में बैठकर दूर-दराज़ के शहरों में जाने लगे तो उनकी पत्नियों को लगा कि यह रेलगाड़ी उनकी दुश्मन है त यह उनके पतियों को उनसे दूर लिए जा रही है त निम्नलिखित गीत इसी मानसिकता की देन है-

रेलिया बैरन पिया को लिए जाय रे !

जउने सड़किया से पिया मोर जइहँ

पनियौं बरसे सड़क बहि जाय रे !

लेकिन उन विवाहिताओं को बाद में एहसास हुआ कि रेल या जहाज हमारी दुश्मन नहीं हैं, दुश्मन तो यह पैसा है जिसके चलते हमारे पति हमसे दूर जाने को मजबूर हैं त अगर आर्थिक अभाव न होता तो वे देस-बिदेश में ठोकरें क्यों खाते? निम्नलिखित गीत में जहाज का वर्णन हुआ है-

मिर्जापुर कइला गुलजार हो

कचौड़ी गल्ली सून कइला बलमू त

ओही मिर्जापुरवा से उड़ेला जहजिया

उड़ि उड़ि जाला रंगून हो त

इस गीत में मिर्जापुर से जहाज के रंगून जाने का उल्लेख हुआ है त बहुत संभव है यह गीत बीसवीं शताब्दी का हो त कहा जाता है कि इसे बनारस की गौहर जान ने अपने प्रेमी के मिर्जापुर चले जाने पर गाया था त संभव तो यह भी है कि लोक कवि ने उक्त गीत में पानी के जहाज के लिए

‘तैरने’ की जगह ‘उड़ने’ शब्द का प्रयोग कर दिया हो। दोनों ही दृष्टियों से यह गीत कम से कम एक शताब्दी पुराना है। अब रेलगाड़ी वाले गीत का उदाहरण देखिए—

रेलिया न बैरी जहजिया न बैरी
हई पइसवा बैरी ना,
पिया के दसवाँ-बिदेसवाँ घुमावे
हई पइसवा बैरी ना।

यह गीत भी बीसवीं शताब्दी का है। आज़ादी के कई दशकों बाद तक सामान्य आदमी हवाई जहाज से यात्रा करने की स्थिति में नहीं था। गीत में रेल के साथ जहाज का इस्तेमाल उसी तरह कर दिया गया है जिस तरह बस-कार का प्रयोग किया जाता है।

उत्तर भारतीय समाज में पेट्रोमेक्स यानी गैस बत्ती का प्रयोग भी बीसवीं शताब्दी में हुआ। इससे पहले सरसों या अलसी का तेल जलाकर उजाला किया जाता था। शादी-ब्याह में तेल के इन्हीं दीयों की रौशनी से सारे काम संपन्न किए जाते थे। इसीलिए विवाह के समय मंडप के करीब बैठी औरतें चन्द्रमा से आग्रह करती थीं कि हे चाँद! आज सौभाग्य की रात है। आज तुम उदित होना मत भूलना। तुम पूरी रात आसमान में मौजूद रहना। तुम दूल्हे के मौर और दुल्हन की मौरी पर उगना जिससे मंडप में उजाला बना रहे। उस मशहूर गीत का मुखड़ा और एक बंद देखिए—

आजू सोहागे क राती
चना तुम उगिहो।
मउरू प उगिहो मउरियो प उगिहो
उगी रह्या सारी राती त चना तुम...

निस्संदेह यह गीत बहुत पुराना है। इसका काल-निर्धारण आसान नहीं है।

(८) खेती-किसानी और प्रवास के आधार पर

हिन्दी के बहुत से गीत खेती-किसानी और प्रवास से संबंधित हैं। नौकरी के सिलसिले में सामान्य कृषक-मजदूरों को दूसरे शहरों में जाना पड़ता था। कभी-कभी ये प्रवासी घर लौटकर भी नहीं आते थे। लम्बे प्रवास वाले गीत गिरमिटिया लोगों से संबंधित हैं। प्रवास की समस्या पर पता नहीं कितने गीत रचे गए। हिन्दी की मशहूर कजरी ‘मिर्जापुर कइला गुलजार हो...’ की रचना प्रिय के कचौड़ी गली (बनारस) छोड़कर मिर्जापुर चले जाने पर की गई थी। यह भी प्रवास गीत ही है। खैर, खेती-किसानी में दरिद्रता-भरा जीवन जीते हुए पूर्वचल के युवक धनोपार्जन के लिए अकसर कलकत्ता चले जाते थे, क्योंकि आज़ादी से पहले पूरबियों के लिए

कमाने और नौकरी करने तथा वाणिज्य-व्यापार के लिए वही एकमात्र शहर था। कुछ युवक रंगून और मोरंग भी चले जाते थे। इन विषयों से संबंधित गीतों में प्रोषित्वत्काओं की इच्छाएं और हर्ष-विषाद व्यक्त हुए हैं। कुछ गीतों के मुखड़े देखिए—

१. पिया मोर गइलें रामा पूरबी बनिजिया
कि लेइ हो अइलें ना,
रस बेंदुली टिकुलिया कि लेइ हो अइलें ना।
२. पिया मोर मोरंग गइलें मोरवन के देस
मोर पिया मोर ना लीअइलें
बजर परो रे देस।

४. लागल झुलनियाँ क धक्का
बलम कलकत्ता पहुँच गए।

भिखारी ठाकुर के प्रसिद्ध नाटक ‘बिदेसिया’ में प्रवास की समस्या मुख्य है। औपनिवेशिक काल में जिन क्षेत्रों से फिजी, गुयाना और मारीशस आदि देशों में गिरमिटिया मजदूर गए, उन क्षेत्रों में प्रवास गीत बहुत मशहूर हैं। इन लोगों ने जिन देशों में प्रवास किया, उन देशों में भी ये गीत गाए जाते हैं।

हिन्दी में खेती-किसानी से संबंधित गीत कम हैं। लेकिन जो हैं, उनसे उन गीतों के रचना-समय का बोध हो सकता है। १९८०-९० तक फसलों की सिंचाई प्रायः पुर, रहट, ढेंकुली या दोन-ओड़िचा से की जाती थी। उस समय ट्यूबवेल और नहरें कम थे। लेकिन धीरे-धीरे पुर, रहट, ढेंकुली और दोन-ओड़िचा गायब हो गए। गर्मियों में पुर और रहट से सब्जी की खेती करना बहुत ही दुष्कर कार्य था। इसीलिए आमतौर पर लोग ज़ायद की फसल कम ही बोते थे। एक किसान ने गर्मियों में तरौई की खेती की, लेकिन बार-बार सिंचाई के बावजूद उसमें फल आता न देखकर किसान की पत्नी ने कहा कि अब मैं ‘नेनुआँ’ (तरौई) की सब्जी नहीं खाऊँगी। पुर छिनते-छिनते मैं तो आज्ञिज आ गई—

अब ना खइबे नेनुआँ क तरकारी हो
पुरवट छिनत-छिनत हम त गइली हारी हो।

इस तरह के गीतों से उनके रचना-काल का अनुमान हो जाता है।

इनके अलावा भी बहुत से ऐसे गीत हैं जिनकी कुछ प्रवृत्तियों के आधार पर उनके आरंभ होने का अनुमान लगाया जा सकता है। ऐसे गीतों में एक गीत है ‘मंगलगीत’। मंगल काव्य की परंपरा बंगाल में प्राप्त होती है। जान पड़ता है कि तुलसीदास के पूर्व इस प्रकार के मंगल काव्य बहुत लिखे

जाते थे। बंगाल के मंगल काव्यों में देवताओं के यश का वर्णन है। तुलसीदास ने 'जानकीमंगल' और 'पार्वतीमंगल' नाम से दो मंगल काव्यों की रचना की। वस्तुतः ये विवाह काव्य हैं। पंजाब में रुक्मिणीमंगल नामक लोकगीत अब भी गाये जाते हैं। महेंद्र राजा ने एक ऐसे ही लोकगीत के बारे में बताया है।

'पूर्वी जिलों में 'माँगर' (मंगल) विवाह गीत ही हैं। (हिन्दी साहित्य का आदिकाल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. १११) इन क्षेत्रों में जिस दिन विवाह की रस्म शुरू होती है, उस दिन को कहते हैं कि फलां दिन 'हरदी मँटमँगरा' है। 'हरदी मँटमँगरा' यानी वर या कन्या को हल्दी लगाने और तालाब से मिट्टी लाने का शुभ मुहूर्त।

माँगर परम्परागत गीत हैं। इन गीतों को मंगलाचरण, देवी/ देव-स्तुति, नचारी/ लचारी, वंदना गीत भी कहते हैं। 'निबियाँ की डरियाँ मइया नावेलीं झलुअवा हो कि झूली झूली ना' गीत मंगल गीत ही है। उपासना और मनौतियों के समय दुर्गा, शीतला, काली, गंगा, पार्वती, लक्ष्मी आदि की स्तुतियों वाले गीत भी इसी श्रेणी में आते हैं। कोहबर, पिंडिया और छठी माता के गीतों को भी इसमें शामिल किया जा सकता है। थोड़े फेरबदल के साथ कुछ गीत अनेक अंचलों में गाए जाते हैं। गीतों में प्रयुक्त कुछ शब्दों के आधार पर हम एक अंचल के गीतों पर दूसरे अंचल के गीतों के प्रभावों की जाँच कर सकते हैं। विवाह के आरंभ होने के समय गाए जाने वाले एक गीत का प्रारंभिक अंश देखिए-

केकरे दुआरे मानर बाजेला

बजत सोहावन हो।

'रामा' दुआरे मानर बाजेला

बजत सोहावन हो।

ध्यान दीजिए, पूरब में ढोलक का प्रचलन है, मानर का नहीं। मानर (मादल) मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ का वाद्ययंत्र है तयह शब्द वहाँ से यहाँ आया है। बहुत संभव है, यह पूरा गीत ही उधर से इधर आया हो।

बिरहा को उपर्युक्त किसी श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। इसकी परख इसलिए ज़रूरी है कि बिरहा सर्वाधिक प्राचीन लोकगीत है। यह आभीरों यानी अहीरों का गीत है। इसलिए इसे यादवों का जातिगीत कहा जाता है, हालांकि इसे अब अनेक जातियों के लोग गाने लगे हैं। यही नहीं, सिर्फ पुरुषों द्वारा गाए जाने वाले इस गीत को महिलाएं भी गाने लगी हैं। गँवारों का गीत कहा जाने वाला बिरहा

पूर्वांचल का सर्वाधिक लोकप्रिय गीत है।

बिरहा हिन्दी के सर्वाधिक पुराने लोकगीतों में से एक है। बिरहा चरवाहों का गीत रहा है। मेरे विचार से बिरहा की शुरुआत पशुचारण सभ्यता के दौर में हुई। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बिरहा का संबंध दोहे से माना है। 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' में उन्होंने लिखा है-'आधुनिक अहीरों के अत्यंत प्रिय बिरहा-गान का खाका मूलतः दोहा छन्द ही है। (पृ. १११) दोहा अपभ्रंश का प्रिय छन्द है। आरंभ में इसे 'दूहा विद्या' कहा जाता था। ग्राम्य अपभ्रंश में लिखे जाने के कारण दोहा बंध भले आदमियों की हँसी की चीज़ थी। (बिरहा भी 'भले आदमियों' के लिए उपहास की चीज़ था।) बाद में चलकर दोहे को बड़े साहित्यकारों का सहारा मिला। संभव है अपभ्रंश के इस अनूठे छन्द का संबंध अहीर/ आभीर जाति से रहा हो। 'नाट्यशास्त्र' में उकारबहुला जिस भाषा को आभीरों से संबंधित किया गया है, वह अपभ्रंश ही थी। आचार्य दंडी ने भी आभीर आदि की वाणी को अपभ्रंश कहा है। 'प्राकृत पेंगलम्' में एक विशेष छन्द को आभीर छन्द या अहीर छन्द कहा गया है। इस अहीर छन्द में दोहा के दूसरे और चौथे चरण के समान ग्यारह मात्राओं के चार समान चरण होते हैं। 'प्राकृत पेंगलम्' के एक छन्द में इसका लक्षण दिया हुआ है-

ग्यारह मत्त करीज, अन्त पओहर दीज।

एहु सुछंद अहीर, जंपड़ पिंगल धीर।।

छन्दशास्त्र में इसे दोहे का ग्यारहवाँ भेद कहा गया है। दोहा वह पहला छन्द है जिसमें तुक मिलाने का प्रयत्न हुआ है। केशवदास ने 'रामचंद्रिका' में आभीर छन्द का प्रयोग किया है। 'छन्दमाला' में दिए गए आभीर छन्द का उदाहरण देखिए-

सुंदर दूलह राम त देह धरें जनु काम।

धनुष चढ़ावहिं ईस त सब मिलि देहिं असीस।

बिरहा का यह रूप पुराना है। इसे खड़ी बिरहा कहा जाता है तयह एक मुक्तक काव्य है। इसे स्वतंत्र रूप से भी गाया जाता है और लोरिकी नामक गाथागीत के बीच-बीच में भी इसका गायन किया जाता था। एक उदाहरण देखिए-

हुरवा नियर तोर जुरवा रे गोरिया

पुअवा नियर तोर गाल।

पनवाँ नियर बाडू पतरी ए गोरिया

लोटवा नियर तोर भाल।।

काशी के बाबू रामकृष्ण वर्मा (उपनाम बलवीर) को ये बिरहे इतने प्रिय थे कि उन्होंने इन्हीं की रीति पर अपनी

पुस्तक 'बिरहा नायिका-भेद' में साहित्यिक बिरहों की रचना की। (लोकसाहित्य की भूमिका, पृ. १८०) जॉर्ज ग्रियर्सन ने इन्हें असाहित्यिक कहा था, लेकिन डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय के विचार से 'बिरहा में बिहारी के दोहों की-सी छटा दिखाई पड़ती है।

अपभ्रंश-काल से चले आ रहे इन बिरहों में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ज़बरदस्त बदलाव हुआ। यहाँ से एक नई शैली वाला बिरहा प्रचलित हुआ जिसे कथात्मक बिरहा कहा जाता है। इस बिरहे का प्रचलन बिहारी गुरु से हुआ। आज बिरहा के चार प्रमुख अखाड़ों के अलावा कई स्वतंत्र अखाड़े भी हैं। यह बिरहा पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, झारखंड के अलावा फिजी और मारीशस में भी गाया जाता है।

अब मैं मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ और झारखंड के गीतों की चर्चा करूँगा। हिन्दी प्रदेश के ये इलाक़े लोकगीत और लोक संगीत की दृष्टि से बहुत समृद्ध हैं। पंडवानी, कर्मा, ददरिया, कहरवा, राउत नृत्य-गीत, घोटुल पाटा आदि यहाँ के प्रचलित गीत हैं।

पंडवानी कथा-गीत है। यानी यह कथा भी है और गीत भी। इसका अर्थ है—पांडव-वाणी यानी पांडव कथा। यह लोकनृत्य या लोकनाटक भी है। इसकी दो शैलियाँ हैं—कापालिक और वेदमती।

(क)कापालिक शैली : कापालिक का अर्थ है जो 'कपाल' में विद्यमान हो। कपाल यानी सिर। अर्थात् जो दिमाग में संचित हो। दूसरे शब्दों में लोक गायक / गायिका की स्मृति में महाभारत की जो कथा संचित है, उसका गायन कापालिक शैली कहलाता है।

(ख) वेदमती शैली : वेदमती शैली के गायक / गायिका वीरासन में बैठकर सबलसिंह चौहान के 'महाभारत' का गायन करते हैं। उल्लेखनीय है कि सबलसिंह चौहान (१६६१-१७२४) ने दोहा-चौपाई में महाभारत का अनुवाद किया था। अनुवाद की भाषा सीधी-सरल है और उसमें काव्यात्मकता का अभाव है। (हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. ४१०) पंडवानी की प्रसिद्ध गायिका तीजनबाई इसी वेदमती शैली में पंडवानी गाती हैं। मुख्यतः इसे छत्तीसगढ़ की 'परधान' (गोंड की एक उपजाति) और 'देवारू' (घुमंतू जाति) जाति के लोग कथा कहते हुए गाते हैं।

महाभारत की कथा को आधार बनाकर मेवात में 'पंडून का कड़ा' गाया जाता है। यह एक लोक कवि सादुल्लाह की

रचना है। इसे उन्होंने १७४० ई. में पूरा किया था। यह दोहों में लिखी हुई मुक्तक रचना है। इसमें महाभारत के पात्रों के लोकप्रचलित नामों का प्रयोग किया गया है। इसके कई पात्र काल्पनिक हैं।

कर्मा आदिवासी और पिछड़े समाज के लोगों का विशिष्ट नृत्य-गीत है। नृत्य और गीत की यह शैली उत्तर प्रदेश के सोनभद्र, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ और झारखंड में प्रचलित है। कर्मा शैली में कबीर के निर्गुण भी गाए जाते हैं। एक उदाहरण देखिए—

आ हा हाये! रीनी झीनी आ ना
चादर ला ओढ़ायला री नी झीनी आ ना।
आठ बरन कै चरखा बन गए, दसै बरन कै पूनी,
रामा दसै बरन कै पूनी।
नौ-दस महिना बीनत लग गए मूरख मैली कीनी।
ना मैं आरी ना मैं भोरी पूत जनाजन हारी,
रामा पूत जनाजन हारी।

तिन तिन लरिका गोद खेलायौं हौं मैं अभी कुँवारी।
ददरिया छत्तीसगढ़ का लोकगीत है। यह श्रम की साधना और प्रकृति की आराधना में रत किसानों का गीत है। इसमें प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। लोकसाहित्य के विद्वानों का विचार है कि 'दादर' यानी ऊँचे स्थान या जंगल-पहाड़ में गाए जाने के कारण इसका नाम ददरिया पड़ा। यह समूह में और अकेले भी गाया जाता है। यह प्रायः सवाल-जवाब के रूप में होता है—

बटकी में बासी अउ चुटकी में नून।
मैं गावत हँव ददरिया तैं कान दे के सुन ॥
करिया रे हँडिया के उज्जर हावय भात।
निकलत नई बने अँजोरी हावय रात ॥

किसानों और मजदूरों के जीवन से जुड़े इस गीत की परंपरा उतनी ही पुरानी लगती है जितना दूसरे श्रम गीतों की।

इसी तरह 'दादरा' हिन्दी प्रदेश का प्रमुख गीत है। इसकी अनेक धुनें हैं। 'छाई है कारी बदरिया / बरसे आधी रतिया' से लेकर फ़िल्मी गीत 'आज जाने की जिद ना करो' दादरा की धुन में ही हैं। मुझे लगता है कि दादरा और ददरिया एक ही मूल के गीत हैं। दादरा की व्याप्ति विस्तृत भूभाग और लोक और शास्त्र तक हो गई, जबकि ददरिया किसानों-मजदूरों तक सीमित होकर रह गया।

कहरवा लोकगीत का एक रूप है। यह श्रम से जुड़ा हुआ गीत है त इसका नामकरण पालकी ढोने वाले कहारो की

गायन शैली पर हुआ है। डोली ढोते हुए कहार थकान को भुलाने के लिए डोली में बैठी दुल्हन से थोड़ा चुहल भी कर लेते थे-

‘हे हो अलबेली, तोहरे खोंइछवा में भेली
तनी मँगनिया देतू ना,
हमके जिन जान्या पुरनिया
तनी मँगनिया देतू ना।

कहरवा शास्त्रीय संगीत में भी लोकप्रिय है। कहरवा शास्त्रीय रूप से ४-४ मात्राओं के दो विभागों में बँटा एक ताल है। कहरवा प्रायः हिन्दी की सभी बोलियों में गाया जाता है। श्रम से जुड़े दूसरे गीत भी समूह में श्रम करते हुए थकान को भुलाने और मनोरंजन के लिए गाए जाते हैं। इनकी शुरुआत तभी हुई होगी जब मनुष्यों ने सामूहिक श्रम करना शुरू किया होगा।

रातउ नाच छतीसगढ़ के यादवों का मशहूर नृत्य है। इसके बीच-बीच में दोहे गाये जाते हैं। ‘मड़ई’ लिए आकर्षक भेषभूषा में नर्तकों के साथ एक-दो गायक होते हैं। वे एक दोहा गाते हैं। उसके बाद नर्तक नृत्य करते हैं। नर्तकों के साथ गायक भी नाचते हैं। इस तरह कई दोहे गाए जाते हैं और दोहा गायन के बाद नृत्य होता है। दोहों का विषय कुछ भी हो सकता है। दो-एक दोहे देखिए-

अरे रे रे रे रे भाई रे!

जमुना जी तो कारी कारी राधा गोरी गोरी रे।

बिंद्राबन में धूम मचावें बरसानो की छोरी रे ॥

अरे रे रे रे रे भाई रे!

अरे अरगा टूटे परगा टूटे भूरी गइया ला छानो रे।

ओहर निकले गोकुल कन्हइया भागे भूत मस्तानो

रे ॥

अरे रे रे रे रे भाई रे!

मुड़िया जनजाति का गीत ‘घोटुल पाटा’ शोकगीत है, जबकि जगार गीत जागरण गीत है। यह बस्तर की जनजातियों का गीत है। बस्तर में धार्मिक-सांस्कृतिक आयोजनों के समय पौराणिक आख्यानों को गाया जाता है। इस तरह के गीत चौथी शताब्दी से प्रचलन में हैं। ये गीत शिव, कृष्ण और समुद्र मंथन से संबंधित होते हैं।

लिंगोपेन मुड़िया जनजाति का गीत है। बस्तर में किशोरों और किशोरियों को विवाह पूर्व गार्हस्थ्य जीवन की शिक्षा देने के लिए घोटुल की प्रथा है। घोटुल गाँव से बाहर एक बंद जगह होता है जिसमें प्रवेश के लिए एक दरवाज़ा होता है। जवान होते लड़के-लड़कियाँ वहाँ जोड़े में रात

गुज़ारते हैं और तन-मन से एक-दूसरे से परिचित होते हैं। आपसी सहमति बनने पर वे शादी कर लेते हैं। लिंगोपेन इसी घोटुल के प्रमुख देवता हैं। इसे भूमि का स्वामी माना जाता है। लिंगोपेन गीत इसी को लक्ष्य करके गाए जाते हैं। यह और इस तरह के गीत आदिम समय से गाए जा रहे हैं। क्षेत्र और समय के हिसाब से इनके रूप और भाषाएँ बदलती रही हैं।

हिन्दी के लोकगीतों का दायरा बहुत विस्तृत है। उन पर एक लेख में चर्चा करना संभव नहीं है। इस लेख में जितना संभव हो सका है, उतने गीतों का परिचयात्मक उल्लेख किया गया है।



संपर्क:

प्रो. चन्द्रदेव यादव

हिन्दी विभाग

जामिया मिल्लिया इस्लामिया

नई दिल्ली - ११००२५

cdsyadav@gmail.com

हम ग़ज़ल को पूर्ण रूप से हिंदी ग़ज़ल के रूप में स्थापित करना चाहते हैं। इसके लिए बहुत मेहनत की आवश्यकता भी नहीं है। हमें फारसी, अरबी शब्दों से परहेज नहीं। बस हर शेर में हिंदी के दो-तीन ऐसे शब्द शामिल किए जाएं जिनसे आमतौर पर उर्दू वाले परहेज करते हो। उदाहरण स्वरूप हरिशंकर राढ़ी की इस ग़ज़ल में मैंने तीन शब्दों को बदला है और एक शेर की एक पंक्ति को बदला है। इसे देखिए मेरा विचार है यह पूर्ण रूप से हिंदी ग़ज़ल कही जाएगी।

दानिश

ग़ज़ल हरिशंकर राढ़ी

यूँ अगर चलते रहे ये सिलसिले।
सिर्फ बढ़ने हैं दिलों में फासले।
भीड़ बनकर रह गए ताउम्र तुम
काश, बनते आदमी के काफिले!
हर वरक़ पर खून की बूँदें पड़ीं
फेंक दे इतिहास ऐसे बावले।
बोलना मुश्किल बहुत होने लगा
शब्दभेदी बाण सबके ध्वज तले।
मान बैठे सभ्यता हम आजकल
जो नज़र आते दिखावे-चोंचले।
दुश्मनी ढंग से निभाने आ गई
शेष सब रिश्ते हमारे खोखले।

अगर = यदि

सिर्फ = केवल

ताउम्र = हो मित्र

हर वरक़ पर खून की बूँदें पड़ीं = रक्त रंजित जो भी पन्ने है सभी

संपर्क :

बी - ५३२, (दूसरा तल), वसंतकुंज इंकलेव (बी-ब्लॉक) नई दिल्ली- ११००७०

मो०- ०९६५४०३०७०९

email: hsrarhi@gmail.com

हिंदी ग़ज़ल

यूँ यदि चलते रहे ये सिलसिले।
बढ़ने हैं केवल दिलों में फासले।
भीड़ बनकर रह गए हो मित्र तुम
काश, बनते आदमी के काफिले!
रक्त रंजित जो भी पन्ने है सभी
फेंक दे इतिहास ऐसे बावले।
बोलना मुश्किल बहुत होने लगा
शब्दभेदी बाण सबके ध्वज तले।
मान बैठे सभ्यता हम आजकल
जो नज़र आते दिखावे-चोंचले।
दुश्मनी ढंग से निभाने आ गई
शेष सब रिश्ते हमारे खोखले।

सुलगता है तेरी यादों का बन

डॉ. रंजन जैदी

सैयद मासूम रज़ा आब्दी वल्द सैयद बशीर हसन आब्दी, साकिन गंगोली ज़िला गाज़ीपुर, उत्तर प्रदेश। राही का जन्म सितम्बर, १९२७ को उनके नानीहाल बघुंही, में हुआ था। बघुंही, पारा और नुनेहरा नामक क़स्बों के पास बसा हुआ पूर्वी उत्तर प्रदेश ज़िला गाज़ीपुर का एक छोटा सा गांव है। उनका दादीहाल गंगोली में है, यानी गाज़ीपुर से लगभग १२-१४ मील दूर। कहते हैं कि उस गांव का नाम वहां के एक राजा गंग के नाम पर रखा गया था। मासूम रज़ा की दादी राजा मुनीर हसन की बहन थीं। डेकमा-बिजौली में उनका निकाह एक दुहाजू व्यक्ति के साथ हुआ लेकिन वह कभी अपनी ससुराल में नहीं रहीं। उन्होंने अपना पूरा जीवन अपने पति के साथ मायके में ही गुज़ार दिया। उनके पति अपने जीवन के आखिरी दिनों में मानसिक रोग से पीड़ित हो गये थे और एक दिन एक गढ़े में गिरते ही उनकी मृत्यु हो गई थी।

राही के पिता सैयद बशीर हसन आब्दी गाज़ीपुर के जाने-माने वकीलों में शुमार किये जाते थे और एक कट्टर कांग्रेसी होने के कारण उनका राजनीतिक क़द भी काफ़ी बढ़ा था।

अर्धसामंती परिवेश में पले-बढ़े होने के कारण मासूम रज़ा को सामाजिक भेद-भाव का बखूबी अहसास था। विरासत में मिले शानदार अतीत, आभिजात्य संस्कृति के परिवेश और विशिष्ट सामाजिक मान्यताओं की बंदिशों ने मासूम रज़ा को बचपन में ही यह सिखा दिया था कि किसे 'सलाम' करना चाहिए और किसे 'आदाब'। शायद यही वे कारण थे कि रक्त की शुद्धता और रूढ़िवादी संस्कारों की बढ़ता से जकड़े मासूम को उनका विरोध करते रहने से विमुख होते कभी किसी ने नहीं देखा। अपने जीवन के अंतिम क्षणों तक उन्होंने इंकलाब के रास्ते और उसके फ़लसफ़े को अपनी सोच से खारिज नहीं होने दिया। बचपन से उनकी विद्रोही प्रवृत्ति, मुखर और स्पष्टवादिता ने उन्हें कालांतर में एक ऐसे साहित्यकार के रूप में प्रस्तुत किया जिसका उदाहरण बहुत कम उपलब्ध है।

मासूम रज़ा के प्रथम गुरु थे मौलवी मुनवर।

कुरआन पढ़ने की दीक्षा मासूम ने इन्हीं से ली थी जो उन्हें कभी पसंद नहीं आये। अनेक कारणों में एक कारण यह था कि वह खर्च में प्रतिदिन मिलने वाली इक़नी मासूम से छीन लेते थे और जब वह मौलवी मुनवर से अपनी तसल्ली के लिए सवाल करते तो तसल्लीबख़्शा उत्तर देने के बजाय वह उनकी पिटाई करने लग जाते थे।

मासूम रज़ा के साईस का नाम मथुरा और घोडी का नाम मोती था जिनसे उन्हें बेहद लगाव था। मथुरा उन्हें इसलिए पसंद था कि वह उन्हें मोती की सवारी करने के लिए प्रेरित करता रहता था लेकिन बोन टीबी होने के कारण वह घुड़सवारी नहीं कर सकते थे। दस वर्ष की आयु में उन्हें बोन टीबी हो गई थी जिसके कारण उनकी एक टांग में लंग आ गया था। उन दिनों बड़े भाई मूनिस रज़ा जो कालांतर में दिल्ली विश्वविद्यालय के उप-कुलपति बने, बड़ी बहन कमर जहां और नौकर रऊफ़ उन्हें उठाकर आंगन में लाते और पतंग उड़ाने के शौक में उनकी मदद करते। उन दिनों की प्रतिष्ठित उर्दू पत्रिका 'इस्मत' मासूम की पहली पसंद रही थी।

मासूम के बचपन के मित्रों में लालू और लड्डन उनके साथ सबसे छुपकर बीमारी की हालत में भी डोली में बैठ कर स्थानीय अमर टाकीज़ में लगने वाली फिल्मों को देखने ज़रूर जाते थे। ये दोनों मित्र कालांतर में उनके उपन्यास आधा गांव में पात्र बन कर दिखाई दिये। मासूम को अपनी हवेली के किस्सागो ४५ वर्षीय कल्लू कक्का भी कभी नहीं भूले। उन्हें ६ रु० प्रति माह वेतन के रूप में बच्चों की कल्पनाशीलता बढ़ाने के उद्देश्य से किस्सागोई के लिए दिया जाता था। तिलस्मे होशरुबा के लगभग २१ अध्याय मासूम ने रात-रात जागकर कल्लू कक्का से ही सुने।

तिलस्मे- होशरुबा की कहानियों ने मासूम पर इतना गहरा प्रभाव छोड़ा कि जब वह बड़े हुए और शोध के लिए विषय चुनने की बात आई तो उन्होंने इन्हीं कहानियों में से सांस्कृतिक तत्व तलाशने का इरादा किया और विषय चुना 'तिलस्मे-होशरुबा में सांस्कृतिक तत्व', जिसे उर्दू में हम 'तहज़ीबी अनासिर कह सकते हैं। ये वही तिलस्मे-होशरुबा की कहानियां थीं जिन्हें मुंशी प्रेम चंद ने पढ़ कर अपनी रचना यात्रा की

शुरुआत की थी।

बीमारी के कारण मासूम का स्कूल से नाता लगभग टूट चुका था। पिता भी नहीं चाहते थे कि मासूम अस्वस्थता के कारण पढ़ाई जारी रखें। इसके बावजूद वह उर्दू माध्यम से परीक्षाएं देते रहे। पिता, मासूम के भविष्य के प्रति चिंतित रहा करते थे, इसी कारण उन्होंने रोज़ी-रोज़गार को ध्यान में रखते हुए गाज़ीपुर में ही मासूम के लिए 'कोआपरेटिव स्टोर' खुलवा दिया और जब वह रोज़गार से लग गये तो उनका ज़िला फ़ैज़ाबाद के हेड पोस्टऑफिस के पोस्टमास्टर की छठी कक्षा तक पढ़ी एक घरेलू और मज़हबी किस्म की लड़की मेहरबानो से विवाह कर दिया। मासूम को यह लड़की किसी भी रूप में स्वीकार नहीं थी। तीन वर्षों बाद इसी लिए दोनों के बीच तलाक हो गई। कमाल की बात यह है कि तलाकनामे पर भी मासूम ने हस्ताक्षर नहीं किये बल्कि पिता बशीर हसन आब्दी एडवोकेट को करने पड़े क्योंकि मासूम ने बेहद मासूमियत से कह दिया था कि जिसने शादी कराई, वही तलाक भी दे।

यहां विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि इस अपमान से आहत होकर मेहरबानों ने अपनी पढ़ाई शुरू की और पहली ही बार प्रथम श्रेणी में हाई स्कूल पास कर अपने समय के समाज को चौंका दिया। इस सफलता ने मेहरबानो को फिर कभी पीछे मुड़कर नहीं देखने दिया। कालांतर में जब तक वह प्रोफ़ेसर नहीं बन गई, उन्होंने सुकून का सांस नहीं लिया।

अपने भाई प्रोफ़ेसर मूनिस रज़ा के प्रगतिशील विचारों से मासूम काफ़ी प्रभावित रहा करते थे। इसी विचारधारा के अंतर्गत ही उन्होंने १९४२ के साम्यवादी आंदोलन में भाग लेने के उद्देश्य से पहली बार गाज़ीपुर से भागकर लखनऊ की यात्रा की जहां पहली बार वह प्रगतिशील लेखकों और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के सम्पर्क में आये जिसमें उनके भाई प्रोफ़ेसर मूनिस रज़ा को काफ़ी सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था।

१९४९ में इलाहाबाद प्रगतिशीलियों और कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ताओं का गढ़ सा बन चुका था। यहीं पर साम्यवादी विचारधारा के कट्टर समर्थक और उस समय तक प्रतिष्ठित हो गये उर्दू के शायर अजमल अजमली से मासूम की पहली भेंट हुई जिन्होंने उनके जीवन की दिशा ही बदल दी। उन्हीं के माध्यम से मासूम जो अब तक उर्दू शायरी में राही मासूम रजा के नाम से पहचाने जाने लगे थे, की भेंट उर्दू विद्वान डा. एजाज़ हुसैन से हुई जो नकहत क्लब के

संस्थापक अध्यक्ष थे, उन्होंने राही की शायरी की न केवल खूब सराहना की बल्कि उनकी अनेक हिन्दी साहित्यकारों से भेंट भी कराई, जिनमें बलवंत सिंह, उपेंद्रनाथ अशक, कमलेश्वर, और धर्मवीर भारती सरीखे अनेक साहित्यकार विशेष उल्लेखनीय हैं। उर्दू साहित्यकारों में मुजाविर हुसैन जो इब्ने सईद के नाम से लिखते थे, जमाल रिज़वी यानी शकील जमाली, खामोश गाज़ीपुरी, मसूद अख्तर जमाल,

वामिक जौनपुरी, मुस्तफ़ा ज़ैदी, तेग़ इलाहाबादी, असरार नार्वी जो इब्ने सफ़ी के नाम से अपने समय की बुलंदियां छू रहे थे, और रघुपति सहाय फिराक़ गोरखपुरी आदि साहित्यकार प्रमुख थे। ये और इन जैसे अनेक साहित्यकार तथा कवि व शायर प्रगतिशील लेखक संघ के सदस्य थे और अब तक राही इनके सम्पर्क में आ चुके थे।

सन् १९५० के दौरान इलाहाबाद में उन दिनों राही की एक नज़्म थके हुए मुसाफ़िरो/यहां न डेरा डालना साहित्यिक हलक़े में काफ़ी चर्चित हो गई थी लेकिन उन्हें एक पाए का शायर माना गया हिन्दोस्तां की मुक़द्दस ज़मीं/जैसे मेले में तन्हा कोई नाज़नीं नज़्म से। यह नज़्म उर्दू की पत्रिका कारवां में प्रकाशित हुई थी। उन्हीं दिनों उनका एक लेख दिल्ली की एक उर्दू पत्रिका शाहराह में प्रकाशित हुआ। यह लेख उन्होंने अपने अभिन्न मित्र कामरेड डा० अजमल अजमली की एक नज़्म को लेकर लिखा था जिसमें उन्होंने उस नज़्म की ऐसी बखिया उधेड़ी कि जनवादी खेमों में उन्हें लेकर चिंताएं शुरू हो गईं और कामरेड शायर अजमल अजमली से उनके वर्षों पुराने रिश्ते टूट गये।

यहीं से राही के विवादों का भी सफ़र शुरू होता है जिसने उनका मुम्बई तक पीछा नहीं छोड़ा। यास अज़ीमाबादी के व्यक्तित्व पर राही ने एक पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि पहचान और परख का दृष्टिकोण नये आलोचकों को अब बदलना होगा और उर्दू को अलिफ़लैलवी दास्तानों की क़ैद से आज़ाद करना होगा। इस पर उर्दू के चोटी के साहित्यकारों में बवाल मच गया। विवादों के सिलसिले आगे भी चलते रहे जैसे उनका अहिंसा में विश्वास करना और उर्दू को तवायफ़ों की ज़बान कहना आदि।

कामरेड अजमल अजमली की नज़्म की आलोचना करते हुए उन्होंने अपने लेख में राही ने पहली बार अहिंसावादी विचारधारा का समर्थन किया था। उनका विचार था कि हिंसा से समस्याएं नहीं हल की जा सकतीं। इससे आने वाली नई पीढ़ी नात्सीवाद की समर्थक हो जायेगी और आतंक तथा भय में भीगा हुआ आक्रोश का प्रदर्शन व्यक्ति को

यथार्थवादिता से वंचित कर देगा। उन्होंने लेख में लिखा कि सच्ची और मौलिक आज़ादी हासिल करने के लिए देश में जनमत तैयार करना ज़रूरी है। आतंकवाद ही फ़ासीवाद है।

निकहत क्लब की स्थापना सन् १९५२-५३ में हुई थी। इसका प्रथम अधिवेशन गोरखपुर में दूसरा बिहार की राजधानी पटना के दानापुर में तथा तीसरा सम्मेलन उत्तर प्रदेश के आजम गढ़ में सम्पन्न हुआ। इन तीनों सम्मेलनों में राही ने सोल्लास भाग लिया। इस समय तक राही मासूम रज़ा उर्दू साहित्य के एक चर्चित चेहरे के रूप में अपनी पहचान बना चुके थे। इन्हीं दिनों इलाहाबाद के सईद प्रकाशन की रूमानी दुनिया सिरीज़ में राही का पहला उर्दू उपन्यास मुहब्बत के सिवा प्रकाशित हुआ जिसने राही की तत्कालीन ख्याति को न केवल धूलधूसरित कर दिया बल्कि उर्दू जगत की तेवरियों पर भी बल डाल दिये। उस समय के साहित्यकारों को इसका तनिक भी अनुमान नहीं था कि यही उपन्यास कालांतर में अपना कलेवर बदलकर बड़े कौनवास के साथ हिन्दी साहित्य की चौखट लांघेगा तो यह उपन्यास अपने लेखक को एक बड़ा उपन्यासकार सिद्ध कर देगा। आधा गांव इसी बात का प्रमाण है।

ऐसा नहीं है कि राही ने उपन्यास लिखने बंद कर दिये थे, बहुत से लेखक उन दिनों छत्र नामों से उपन्यास लिख रहे थे जिनमें कालांतर में प्रसिद्धि की बुलंदियां छूने वाले लेखकों में कृष्ण चंदर और कमलेश्वर सरीखे कहानीकार भी थे। राही ने भी आफाक हैदर और शाहिद अख्तर नाम से सईद प्रकाशन में लिखना जारी रखा। इन्हीं उपन्यासों की सिरीज़ में एक उपन्यास आरजुओं की बस्ती था जिसे आगे जाकर हिन्दी में कटरा बी आर्जू के नाम से दिल्ली के राजकमल प्रकाशन ने प्रकाशित किया। इस बार भी इसके लेखक राही मासूम रज़ा ही थे।

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में उन दिनों तालीम हासिल करना बड़ी बात मानी जाती थी। राही के तीन भाई अलीगढ़ में पहले से ही विश्वविद्यालय से जुड़े हुए थे। राही का भी सपना था कि वह विश्वविद्यालय में दाखिला लें। अंततः ३३ वर्ष की आयु में उन्होंने अलीगढ़ में आकर एमए उर्दू में दाखिला ले लिया। उनके समकालीन साहित्यिक मित्र डा० सिद्दीकुर्रहमान बताते हैं कि राही अपने सहपाठियों में सबसे अधिक उम्र के छात्र रहे थे। इसके बावजूद वह हर उम्र के छात्रों में एक शायर और लेखक के रूप में अत्यधिक लोकप्रिय थे।

इस समय तक उनके अनेक काव्य संकलन प्रकाशित

हो चुके थे जिनमें रक्से-मय, मौजे-गुल मौजे सबा, नया सल, अजनबी शहर-अजनबी रास्ते, तथा महाकाव्य सन् अट्टारह सौ सत्तावन आदि प्रमुख थे। सन् १९५७ नामक महाकाव्य में उनका एक अलग दृष्टिकोण देखने को मिलता है। उनके अनुसार यह लड.ई आजादी की नहीं, रजवाड़ों की पेंशन की लड़ाई थी। मुगल आखिरी मुगल बादशाह बहादुरशाह ज़फ़र और नाना साहब को अपनी-अपनी पेंशन की अधिक चिंता थी। रानी लक्ष्मीबाई अपने दत्तक पुत्र दामोदर को गद्दी पर बिठाना चाहती थीं। इसीलिए इस वर्ग ने सैनिकों का इस्तेमाल किया।

इसी प्रकार राही की एक नज़्म है गंगा और महादेव। इसमें राही साम्प्रदायिक शक्तियों को चुनौती देते हुए महादेव तक से टकराते नज़र आते हैं, कहते हैं कि, 'तुम अपनी गंगा वापस ले लो। तुम्हारे आदर्शों के कलश में यह अपवित्र हो चुकी है क्योंकि मुसलमानों की धमनियों में गंगा का पानी गर्म और गाढ़ा लहू बन कर तैरने लगा है। मुसलमान जो आक्रांता है, अपवित्र है, लेकिन दुर्भाग्य यह है कि वह अपनी नदी, तालाब और धरती से प्यार करने लगा है। यह तो अपनी धरती को छोड़कर कहीं जा नहीं सकता, हां महादेव! तुम अपनी धरती को ज़रूर वापस ले सकते हो।

राही ने मुस्लिम विश्वविद्यालय के लिट्रेरी क्लब के लिए दो नाटक भी लिखे, एक; गूंगी जिन्दगी जिसमें उस समय के बालमंच के कलाकार और आज के प्रसिद्ध फ़िल्मी गीतकार व संवाद लेखक जावेद अख्तर ने गूंगे बालक की भूमिका निभाई थी, और दूसरा एक पैसे का सवाल है बाबा। ये दोनों नाटक काफ़ी सराहे गये। इसी विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग में आगे जाकर उन्हें प्राध्यापक की नौकरी मिल गई लेकिन फिर एक विवाद ऐसा खड़ा हो गया जिसने न केवल उनसे उनकी नौकरी छीन ली बल्कि उनको अलीगढ़ ही सदैव के लिए छोड़ देने पर मजबूर कर दिया।

हुआ यूं कि रिटायर्ड कर्नल यूनुस की युवा पत्नी राही के लेखन और उनकी शायरी से काफ़ी प्रभावित थीं। राही का उनके घर जाना-जाना था। यहीं, राही से उनके प्रेम-प्रसंग की शुरुआत हुई। उस समय श्रीमती यूनुस तीन बच्चों की मां थीं। प्रेम ने जब सरहदें लांघी तो दोनों ने खुद दिल्ली में पाया।

उन दिनों का स्मरण करती हुई श्रीमती शीला सिद्ध बताती हैं कि तब राही एक खूबसूरत महिला के साथ मोतीमहल होटल में ठहरे हुए थे और दोनों निकाह करना चाहते थे। मैंने इस विषय में नामवर सिंह से चर्चा की। फिर हमलोग इस

युगल को अपनी कार में संसद मार्ग की मस्जिद तक ले गये। उन्हें पहुंचाकर मैं और नामवर सिंह तो चले आये, बाद में क्या हुआ मुझे कुछ याद नहीं। इसी खबर ने बाद में अलीगढ़ के सम्भ्रांत परिवारों में बवाल खड़ा कर दिया था। यह एक ऐसी बड़ी घटना थी जिसने राही के जीवन की धारा ही बदल दी। वह कुछ समय तक दिल्ली में रहे, तदुपरांत दिल्ली से मुम्बई जा बसे, जहां से उनके फ़िल्मी करियर के सफ़र की शुरुआत हुई।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि उर्दू उपन्यास 'मुहब्बत के सिवा' जो सन् १९६४ में प्रकाशित हुआ था, उसका पुनर्लेखन अलीगढ़ में १९७८ में प्रारम्भ किया गया। आज के प्रतिष्ठित आलोचक और जनवादी साहित्यकार डा. कुंअरपाल सिंह उन दिनों प्रो० मूनिस रज़ा के घर में राही के साथ एक ही कमरे में रहते थे। राही उपन्यास को उर्दू में लिखते और केपी उसे हिन्दी लिपि में परिवर्तित कर देते। लिखे गये अध्यायों पर राही की मित्र-मंडली में जावेद कमाल और नूरी शाह के साथ बहसें होतीं, आलोचना होती, फिर उसे अंतिम रूप दे दिया जाता। इस प्रकार यह उपन्यास ५ बार लिखा गया। नूरी शाह के सुझाव पर इसका नाम आधा गांव रखा गया। चूंकि इसपर केपी सिंह ने काफ़ी परिश्रम किया था, इसलिए राही ने केपी को ही यह उपन्यास समर्पित कर दिया।

आधा गांव ऐतिहासिक मोहभंग की पृष्ठभूमि में लिखा गया एक कालजयी उपन्यास है जो समय के दबावों से उत्पन्न मूल्यों की टकराहट और विगठन के संकेतों के द्वारा एक जातीय जीवन और व्यक्ति के सामान्य व्यवहार के तमाम उतार-चढ़ावों का अहसास कराता है। इस उपन्यास की कहानी अपनी ज़मीन से जुड़े हुए लोगों के न छुपाये जाने वाले दर्द की अभिव्यक्ति करती है जिसे राही ने शीआ मुसलमानों की आंतरिकता वाह्य-जीवन-व्यापार, सुख-दुख के भवनात्मक संसार, उसके जीपन की कुपठाओं, अवरोधों और तनावों को अपनी ज़बान देकर पाठको से रूबरू करवाया है यही नहीं बल्कि लेखक ने अपने इस उपन्यास में बनते-बिगड़ते आर्थिक सम्बंधों, उभरते राजनीतिक प्रश्नों, फ़ैले हुए सामाजिक परिदृश्यों, सांस्कृतिक मुस्लिम पर्वों और परम्परागत मूल्यों को यथेष्ट अभिव्यक्ति प्रदान की है ताकि अधूरे गांव की समग्रता पूरी तरह से पकड़ में आ सके।

प्रोफ़ेसर मूनिस रज़ा के लिए यह उपन्यास एक उपलब्धि थी। राही ने मुझे एक इंटरव्यू के दौरान बताया था कि उनके इस उपन्यास से मूनिस रज़ा बहुत उत्साहित थे

और उन्होंने जब अपनी शिष्या शीली सद्दू जो राजकमल प्रकाशन की तत्कालीन प्रबंध निदेशक थीं, से इसका ज़िक्र किया तो वह इसे प्रकाशित करने के लिए तैयार हो गईं। बाद में बातचीत के दौरान शीला जी ने मेरे सामने इसकी पुष्टि भी की।

राही आती हुई हिन्दी की आंधी से न तो भयभीत थे और न ही विचलित, लेकिन नये रास्ते तलाश करने में उन्होंने अपने कदम पीछे नहीं लौटाये। इसका प्रभाव कालांतर में हमने बखूबी देखा। एक का किस्सा, सबका किस्सा/सबका किस्सा, दर्द जुदाई। वह अपने बदलते हुए परिवेश की मीमांसा को भलीभंति समझ चुके थे।

इसीलिए उन्होंने अपने काव्य संकलन अजनबी शहर, अजनबी रास्ते के प्रथम पृष्ठ पर लिखा कि टिकू और नीलू के नाम/शायद तुम इस रस्मुलखत यानी उर्दू लिपि से नावाक़िफ़ रह जाओ जिसमें तुम्हारा अम्मू अपने शेर लिखता है, और शायद तुम्हें वो ज़बान कभी पूरी तरह न आ सके जो तुम्हारी ज़बान यानी हिन्दी होने वाली है। मगर मैं एक रस्मुलखत के लिए तुम्हें नहीं छोड़ सकता। क्या कोई ऐसा रास्ता नहीं कि हम लोग एक-दूसरे के लिए अजनबी न होने पाएं?



कबीर साहित्य का समाज-दर्शन

रामकली सराफ

साहित्य-रचना उसका बोधात्मक स्वरूप बराबर अपने युग के सामाजिक-आर्थिक संदर्भों से प्रभावित होता रहा है। कबीर साहित्य में समाज कैसे प्रतिबिम्बित हुआ, उनकी दृष्टि क्या रही है? इसे हमें देखना है। समाज बहुत व्यापक सत्ता है, उसके सारे अन्तर्विरोधों, विसंगतियों को पूरी तरह प्रतिबिम्बित करना चुनौती भरा काम है। एक महाकाव्य रचयिता के लिए तो यह बहुत हद तक संभव है कि वह साहित्य-बोध की व्यापक सामाजिक- प्रक्रिया को अपने में समेट ले, लेकिन एक मुक्तककार के लिए अपने दोहों, साखी, रमैनी और पदों में समाज की जटिलता, बहुआयामी प्रक्रियाओं को समेटना अपेक्षाकृत मुश्किलभरा काम है। लेकिन व्यापक सामाजिक सम्बन्धों की सौन्दर्यबोधीय, नैतिक, आर्थिक और राजनैतिक जटिलता के ताने-बाने को कबीर ने रचनात्मक धरातल पर बखूबी स्वीकार किया। आध्यात्म-चेतना तो निहायत वैयक्तिक अनुभूति है। आध्यात्मिक अनुभूतियों के मूल में समाज नहीं होता। पर सवाल खड़ा होता है कि क्या कोई साधना-पूर्णतया समाज निरपेक्ष हो सकती है? तो नहीं, साधनात्मक दार्शनिक पद्धतियों का भी समाज के साथ सम्बन्ध होता है। विभिन्न प्रतिक्रियाओं, दार्शनिक पद्धतियों सबका समाजशास्त्र होता है। इसका कारण भी समाज के भीतर मौजूद रहता है। इसलिए समाज पर उनका प्रभाव भी पड़ता है। कबीरदास ने अद्वैत, बौद्धों, सिद्धों, नाथों, वैष्णव धर्म, सूफी धर्म सबके प्रभाव को ग्रहण किया। लेकिन सारी साधना पद्धतियों के सम्मिश्रण के बावजूद उनकी अनुभूति अपनी है, सभी कुछ कबीरमय है, सबकी जीवित अनुभूतियाँ हैं।

यद्यपि कबीर की वाणी निगेटिव रूख लिए हुए है, यह उनकी खास शैली है। इसलिए स्टाइल भले ही नगेशन की हो पर उनकी अवधारणाएँ सकारात्मक हैं। कबीर सीधे-सहज ढंग से सामाजिक विसंगतियों, अन्तर्विरोधों पर चोट करते हैं। नकार की यह चीख एक नये समाज के निर्माण की ललक लिए हुए थी। ऊँच-नीच, जाति-पाँति, सम्प्रदाय जैसे खँचों में बंटे समाज की बाह्य और आन्तरिक असंगति उनकी चीख को तीव्र कर देती है, जहाँ वे तमाम मानवीय सम्बन्धों को नकारते नहीं वरन् यह उनके विक्षुब्ध मन का उद्वेलन था,

जो मनुष्य को मनुष्य के रूप में प्रतिष्ठा दिलवाने का संकल्प लिए हुए था।

इसप्रकार कबीर का समाज-दर्शन और जीवन-दर्शन परस्पर अन्तर्सम्बद्ध है। दोनों के केन्द्र में मनुष्य जीवन है, जहाँ मनुष्यता और कबीर दोनों एक-दूसरे के पर्याय बन गये। 'ब्रह्म' भी कबीर के यहाँ आध्यात्मिक चेतना मातृका प्रतीक न बनकर सामाजिक जीवन-दर्शन बन जाता है। कबीर ने कर्मकाण्ड प्रधान धर्म की अपेक्षा सर्वव्यापक चैतन्य स्वरूप ब्रह्म की उपासना पर बल दिया, जो प्रत्येक प्राणी के भीतर मौजूद है। इस आधार पर वे सब प्राणियों को एक मानकर 'समत्ववादी दृष्टि' के हिमायती बन जाते हैं, जो मानव-मातृका से प्रेम करना सिखाता है। विशिष्ट वर्ग द्वारा अपनायी गई भाषा, ज्ञान, अनुभव और उपलब्धि सामान्य जन को पंगु बना रही थी, उनको लगता था मुक्ति के द्वार भी उनके लिए बंद हैं और दूसरी ओर मंदिर मस्जिद में पाखण्डी पंडित और मुल्ला जनसाधारण को अपने कर्मकाण्डी विधानों से बरगलाकर उल्लू सीधा करने में लगे हुए थे। उनका कबीर साहब ने डटकर विरोध किया, जनता में आत्मबल और आत्मविश्वास पैदा किया। अकर्मण्य साधना के स्थान पर कर्म करते हुए साधना मार्ग पर चलने की सलाह दी। आत्मज्ञान के भाव को भरकर आत्मविकास के कार्य द्वारा उन्होंने आम लोगों के पुरुषार्थ को, विश्वास और संकल्प को पुनर्जीवित किया। इस क्रांतिकारी कृत्य के मूल में संत कबीर का निर्भीक व्यक्तित्व ही था।

कबीर ने मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखते हुए जाति, वर्ण, वर्ग, सम्प्रदाय के ऊपर मनुष्य को समान दृष्टि से देखा: 'जाति-पाँति पूछें नहीं कोय, हरि को भजै सो हरि का होय।' बाह्याडम्बरों-पूजा-पाठ, जप, तीर्थ, गंगा-स्नान आदि का कबीर ने जमकर विरोध किया। सीधे-सादे सहज तर्कों के माध्यम से उन्होंने इन पर प्रबल आघात किया। इनके व्यंग्य बड़े चुभते हुए और जोरदार थे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इनके व्यंग्यकार व्यक्तित्व को सटीक ढंग से उपस्थित किया। इनके व्यंग्य तत्कालीन सामंती समाज व्यवस्था पर तीखी चोट करते हैं। मूर्तिपूजा का खण्डन करते हुए लिखा:

“पाहन पूजै हरि मिलै तो मैं पूजूँ पहार।”

इसी प्रकार मुल्लाओं और काजियों की धार्मिक रूढ़िग्रस्तता पर करारा प्रहार करते हुए कबीर ने उनको अपना निशाना बनाया: “कांकर पाथर जोरि कै मस्जिद लई बनाया/ ता चढ़ि मुल्ला बांग दे क्या बहरा हुआ खुदाय।” अतः इन तंगदिल वैभिन्य पैदा करने वाले पागलों से स्पष्ट सवाल किया: “लुई जगदीश कहाँ से आये, कहु कोने भरमाया/अल्लाह राम करीम, केशव, हरि हजरत नाम धराया।” इन बातों का कोई जवाब तत्कालीन सामंती शोषकों के पास नहीं था। कबीर का यह विद्रोह मूल्यहीन विद्रोह नहीं था वरन् निर्मल हृदय संत कवि के हृदय के सहज उद्गार थे, जहाँ वे सहज मार्ग से ईश्वर की निकटता पाने के हामी थे, ‘जिन्ह सहजै हरि जो मिलै’ विभेद बुद्धि का वहाँ क्या काम?

वस्तुतः कबीर मानव मातृकी एकता के कायल थे। विभेद की समस्त रेखाएँ तो वर्ग-स्वार्थ से जन्मी मनुष्य निर्मित हैं। विधाता के यहाँ कोई भेद नहीं ‘एक जाति से सब उत्पन्ना को बाभन को सूद्रा।’ निश्चित ही जब ब्राह्मणों ने समाज में नियन्त्रण का पद संभाला तो उसके मूल में श्रम-विभाजन ही रहा। वह अकर्मण्य बन अपने गूढ़ चिंतन को जनता की समझ में न आने वाली भाषा के माध्यम से शासक वर्ग की हिमायत करते हुए रखता था, क्योंकि यही वर्ग उसका भरण-पोषण करता था, सम्मान देता था और उच्च पद पर आसीन कर पूजता था। यही पुरोहित वर्ग के रूप में सामाजिक शिक्षा पद्धति का स्वरूप निर्धारित करता था, जिसमें जनता को राजा का सम्मान करने और पूजने की बात कहकर उनके ईश्वर होने का भ्रम फैलाता था। उन्होंने ब्राह्मणों की तथाकथित उच्चता और जनविरोधी रूख पर करारा व्यंग्य करते हुए लिखा: “जो तू ब्राह्मण ब्राह्मण जाया, आन बाट है क्यों नहीं आया।” ब्राह्मण धर्म की इस कर्मकाण्डी जड़ता पर प्रबल आघात बुद्ध ने भी किया। ब्राह्मणों के गढ़ काशी में रहकर सारे विरोधों को झेलते हुए भी कबीर अज्ञान और असत्य के विरुद्ध संघर्ष छेड़ने से डरे नहीं, आस्था और विश्वास के दृढ़ स्वर में लिखा ‘सो ब्राह्मण जो ब्रह्म विचारै।’ उन्होंने मुल्लाओं को अपना निशाना बनाते हुए लिखा: “जो तू तुरुक तुरुकिनी जाया, पेट सुन्नत क्यों न कराया।” मानव मातृ एक है, कहीं कोई भेद नहीं। ऊँच-नीच, छुआछूत को धर्म ने कब और कहाँ पैदा किया यह बात संत कबीर की समझ में नहीं आती: “कहूँ धौं युति कहाँ से उपजी तबही छूत तू मानी/एकै पाट सकल बैठाए, युति लेत धौं काकी।” वहाँ तो सब एक ही विधि से उत्पन्न हुए हैं। सभी की धमनियों में एक ही रक्त प्रवाहित हो रहा है। सभी हाड़-मांस के बने हुए हैं। इस प्रकार उन्होंने जन्मना श्रेष्ठता को पाने के ऊँच-नीच वाले आचरण का विरोध कर सदाचरण पर बल दिया। हृदय साधना का यह प्रबल रूप उनकी मानववादी

दृष्टि का चरम उत्स है। लोकधर्मी भक्ति का यह भास्वर रूप उन्हें जीव मातृ के प्रति हो रहे अत्याचार और पीड़ा के खिलाफ खड़ा कर देता है। ‘सबै जीव सांई के प्यारे’ जब सांई को सब जीव प्यारे हैं तो फिर हम ‘सब घरि’ को एक मानकर क्यों न चलें?

यहीं एक अहम सवाल खड़ा होता है कि मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद को नकारने वाले संत कबीर ने स्त्री और पुरुष में भेद क्यों किया? उनके साहित्य में नारी की रचना कहाँ ठहरती है? उसे मनुष्य के बाहर क्यों खड़ा किया? नारी के प्रति जो निषेधात्मकता का रूख संत कबीर में दीखता है, अन्य पक्षों की तरह उसका सकारात्मक पक्ष उभरकर सामने नहीं आता। जबकि उनकी सामाजिक-दार्शनिक चेतना निहायत प्रगतिशील है, जो उनके युग का सच ही नहीं, बाद के युग का सच भी बनी। आज भी उन पक्षों की सच्चाई को हम स्वीकार करते हैं, बल लेते हैं। लेकिन कबीर के इस सच का जितना आकर्षण है, उससे ज्यादा हमारे नारी होने की प्रतिबद्धता है जो बराबर प्रश्न खड़ा कर रही है कि कबीर के नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण का सकारात्मक पक्ष क्या है?

दरअसल हमारे यहाँ एक वैरागी संत पुरुष का जो मूल दर्शन रहा है कबीरदास भी लगभग उसी के कायल थे। उनके समकालिक सभी संतों ने ‘नारी’ को ‘माया’ के रूप में देखा है, जो साधक के साधना मार्ग में रोड़ा बनकर खड़ी हो जाती है, भटका देती है। यद्यपि कबीरदास के बारे में यह भी धारणा प्रचलित है कि उन्होंने विवाह किया था। निश्चित ही नारी से सम्बद्ध गार्हस्थ्य जीवन की जो अनुभूतियाँ थीं, नारी की उपयोगिता-अनुपयोगिता के स्वयं भुक्तभोगी रहे होंगे। पग-पग पर बाधाएँ भी झेली होंगी। कुछ लोग ये भी कहते हैं उन्होंने विवाह नहीं किया। यदि नहीं भी किया तो मनुष्य के प्रति जो उनकी खरी प्रतिबद्धता है उससे बाहर खड़े देखने लगते हैं। नारी उनके मनुष्य से बाहर खड़ी है, ऐसा क्यों? इसके मूल में उनकी साधक की वैयक्तिकता प्रधान रूप से झलकती है। उन्होंने लिखा: “एक कनक अरु कामिनी, विषकल किएउ पाइ/देखै ही सैं विष चढ़ै, खाएँ सू मरि जाए।”

बड़ी सामान्य उक्ति है, जगत की वास्तविकता का निषेध कर रहे हैं। सोना और स्त्री दोनों त्यागी पुरुष को बांधती हैं। लेकिन यदि कहा जाए कि स्त्री भी सोने के प्रति आकर्षित होती हैं तो भी सच है। पर कबीरदास धन-संपदा और स्त्री को समान रूप से देख रहे हैं। इसी प्रकार उन्होंने अन्यत्र लिखा- “सुदूरि तैं सुनि भाले, बिरला बचै कोई/लोह निहाला अगनि में, जलिबिल कोइला होय।”

इस प्रकार का ऐकान्तिक एकांगी दार्शनिक चिन्तन प्रायः साधकों के भीतर प्रतिबिम्बित होता है। कबीर के इस सामाजिक दर्शन की वैज्ञानिकता के बीच सच्चाई सिद्ध नहीं होती। दूसरे कबीर के युग में सामंती समाज में पैठी भोग-

विलास की अतिशयता भी नारी के खिलाफ खड़ा करती है। उन्होंने 'कामी नर के अंग' में लिखा: "परनारी के राचणें औगुण है गुण नाहीं/पार समंद में मछला केता बहि-बहि जाहि। संत कबीर जब यह लिखते हं- "नारी की झाँई पड़त अंधा होत भुजंग।" तो निश्चित ही वे नारी को 'माया' की भाँति 'सांसारिकता' के प्रतीक के रूप में देख रहे हैं, जहाँ वह साधक को अपने लक्ष्य से भटकाती है, अपने आकर्षण के पाश में बांधकर अंधा बना देती है, सच्चाई से अलग कर देती है, तो इसमें नारी का जितना दोष नहीं है, उससे अधिक दोष उस भुजंग का है। भुजंग अंधा हो सकता है, भुजंगिनी अंधी हो सकती है। दोनों को दोष दें तो समाज बनेगा। काम नारी में नहीं है, काम कामी में है अपने में दोष देखना चाहिए।

यह कबीर के युग का अन्तर्विरोध था। साधक की ऊँचाई से देखें तो यह नारी ही नहीं सम्पूर्ण स्त्री-पुरुष जाति की सच्चाई हो जाती है। निश्चित ही नारी के प्रति कबीर नाथपंथी योगियों और सिद्धों से भिन्न दृष्टिकोण लेकर चल रहे थे, जबकि उनका साधनात्मक रहस्यवाद शून्य, अनाहत नाद, इड़ा-पिंगला, सुषुम्ना नाड़ी, अष्टाचक्र, सहस्रदल कमल आदि को स्वीकार करता है। कबीर परम्परित शास्त्रीयतावादी चिंतन माया, जीव, ब्रह्म, जगत् आदि से अत्यधिक प्रभावित रहे। यही वजह है नारी और माया दोनों ही कबीर के लिए भेद ज्ञान पैदा करते हैं। अतः इनसे स्वयं को दूर कर वे साधना की ऊँचाई का संस्पर्श करते हुए 'सर्वब्रह्म' के ज्ञान की ओर मुड़ते हैं। ऐसा ब्रह्म जो किसी दार्शनिक विचारधारा से आबद्ध न होकर स्वानुभूतिपरक ही अधिक है, कहीं-कहीं वे सगुण व्यक्त ब्रह्म को भी स्वीकार करते हैं पर ब्रह्म का सूक्ष्म रूप ही उनको ग्राह्य है, जो भावनामूलक इन्द्रियातीत है। गुरु से प्रेम का मंत्र ग्रहण करके ही वे भाव-साधना द्वारा भक्ति-साधना की ओर उन्मुख हुए। तन्मयावस्था को प्राप्त करने के लिए निरन्तर सुपथ की खोज में रत रहे। परमत्याग ही इस अवस्था का अधिकारी बनाता है: "सीस उतारि पगतलि धरै, तब चखै प्रेम का स्वाद।" इस प्रकार अन्तःकरण को शुद्ध कर साधक अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है, उसमें कोई भेदभाव स्वीकार नहीं। निःसंदेह कबीर की भक्ति प्रेममूलक भक्ति थी, जहाँ वे अपने को 'राम की बहुरिया' कहकर पुकारते हैं। एक ऐसी बहुरिया जो कंत को अपनी आँखों में ढोपकर रखती है, जिसे न कोई अन्य देखे और नहि वह किसी को देखे: नैना अंतर आव तू ज्युँ हौ नैन झंपेउ/ना हौं देखन और कूँ, ना तुझ देखन देऊँ।

यह है सर्वव्यापक घट-घट वासी ब्रह्म जो सभी प्राणियों को एक स्तर पर स्थापित करता है। कबीर का 'सर्वब्रह्म ज्ञान' का यह दर्शन जो हिन्दू-मुस्लिम सामंती प्रभुओं के वर्चस्व से अलग अपने एक भिन्न मार्ग का निर्माण करता है, जो आध्यात्म से जुड़े होने के बावजूद सबके राम होने के

भाव से सम्पृक्त है। ऐसा उच्चतर मानवीय संस्पर्श, जहाँ मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद नहीं है।

वस्तुतः कबीरदास जिस वैयक्तिक चिंतन की ओर झुके, उसका कारण तत्कालीन शासकों की निर्ममता, शोषकवृत्ति और हृदयहीनता ही रही। यही कारण है भौतिक-सामाजिक सत्य के स्थान पर उन्हें गुह्य साधना का आश्रय लेना पड़ा। सवाल खड़ा होता है कि वह प्रवृत्ति निम्न तबके से सम्बद्ध सिद्धों, नाथों एवं संतों में ही क्यों जन्मी? इसकी वजह क्या है? इसका सामाजिक मनोवैज्ञानिक कारण यही हो सकता है कि इस उत्पीड़ित वर्ग के पास कोई राजनैतिक विकल्प नहीं था, जिसके तहत वे अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं को सामाजिक प्रतिष्ठा दिलवा पाते। इसी कारण ये अपने अन्तर्निहित सत्य की ओर उन्मुख हो गुह्य साधना में रत हुए और ऐसे दर्शन को स्वीकार किया जो सामाजिक समत्व पर बल देता था, जिसके मूल में प्रेम था। उन्होंने अपनी प्रेममूलक भक्ति के बल पर ही जनता की भावना को आत्मसात किया, उनके दुःख-दर्द को समझा। यह प्रेम ही उनके लिए समस्त बाह्याचारों से परे समाज के भेदभाव से लड़ने का धारदार औजार था। इसी प्रेमत्व में समूचे भक्ति आंदोलन की आत्मा का बहाव देखा जा सकता है।

तद्युगीन शासक वर्ग के चारित्रिक वैशिष्ट्य से यह एकदम भिन्न बात थी कि वे सभी को समभाव से देखें। लोकभावना और लोकजीवन से जुड़ी ये बातें विशिष्टजन के विपरीत सामान्य जन को प्रिय होंगी, इस प्रकार सामाजिक-सांस्कृतिक धरातल पर अपनी बानियों के माध्यम से विशाल जनसमूह को एकजुट करने का विराट प्रयत्न कबीर ने किया। उनकी वाणी की संघर्षशील चेतना और प्रखर विद्रोही तेवर आज के अन्तर्विरोधी माहौल में भी प्रासंगिक है। उन्होंने जो कुछ भोगा उसमें केवल निज के अन्तर्विरोध को ही नहीं पहचाना वरन् अपने निजी अनुभवों के आलोक में व्यापक लोक से रिश्ता कायम किया। इस प्रकार मानव-मातृ की एकता के पक्षधर कबीर साहेब ने समस्त जातिगत, साम्प्रदायिक विभेदों का खण्डन कर मनुष्य को मनुष्य के रूप में प्रतिष्ठा दी।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि कबीर का समाज-दर्शन मूलतः आध्यात्म दर्शन होने के बावजूद समाज के जिन आयामों का संकेत करता है, वे संकेत आज की दुनिया में धर्मभेद, जातिभेद, देशभेद, राष्ट्रभेद और युद्ध की भयावहता से आक्रांत मानव जाति के लिए कितने प्रासंगिक, कितने ऊँचे, कितने गृहणीय और अर्थवान हैं।



हिन्दी विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

असाध्यवीणा: 'टेमिंग ऑफ द हार्प' के बहाने

दिलीप शाक्य

'असाध्य वीणा' अज्ञेय की एकमात्र लंबी कविता है जिसकी रचना रमेशचंद्र शाह के अनुसार, १८-२० जून, १९६१ के दौरान हुई। यह कविता अज्ञेय के काव्य-संग्रह 'आंगन के पार द्वार' में संग्रहीत है। हिंदी की आधुनिक कविता की परंपरा में इस कविता का अत्यंत महत्व है।

'असाध्य वीणा' एक जापानी पुराकथा पर आधारित है। यह कथा आकोकुरा की पुस्तक 'द बुक ऑफ टी' में 'टेमिंग ऑफ द हार्प' शीर्षक से संकलित है। रामदरश मिश्र ने इस पुस्तक का उल्लेख करते हुए 'असाध्य वीणा' की कथा का सार-संक्षेप इस प्रकार प्रस्तुत किया है: "इस कथा में वर्णित है कि किरि नामक एक विशाल पवित्र वृक्ष से एक जादूगर ने एक वीणा बनाई। चीन के सम्राट ने इस वाद्ययंत्र को संभालकर रखा था और वह चाहता था कि कोई उसे बजाए पर कोई उसे बजा न सका। अंत में वीणाकारों के राजकुमार पीवो ने अपनी साधना द्वारा उसे बजाया। सम्राट ने उससे वीणा बजाने का रहस्य पूछा तो उसने उत्तर दिया कि औरों को वीणा बजाने में सफलता इसलिए नहीं मिली कि वे सभी अपनी बात कहते थे। मैंने वीणा में सोए हुए संगीत को जगाया, अपने आप को भूलकर। मैं स्वयं नहीं जान सका कि मैं वाद्ययंत्र हूँ या वाद्ययंत्र मैं।" १

'असाध्य वीणा' कविता में यह कथा नितान्त भारतीय संदर्भों में घटित होती है और इस तरह घटित होती है कि उसका अभारतीय रूप धुल जाता है। दूसरे शब्दों में अज्ञेय ने एक अभारतीय कथा के आख्यान को एक भारतीय कविता के आख्यान में अद्भुत काव्य-कौशल के साथ घुलनशील बना दिया है। इस घुलनशीलता से जो काव्यानुभव प्राप्त होता है वह इस कविता में प्रस्तुत दो भिन्न संस्कृतियों के आख्यानो की सीमारेखाओं का अतिक्रमण करता प्रतीत होता है। इस ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए रमेशचंद्र शाह ने लिखा है कि "असाध्य वीणा एक जापानी कथा पर आधारित है। उस कथा का अभिप्राय अलग-अलग संस्कृतियों के वृत्तों का अतिक्रमण करने वाला सार्वभौमिक, सर्वव्यापी अभिप्राय है, इसलिए कवि के चित्त को उसने छुआ और उसे अपनी तरह 'काव्य' रूप में साक्षात् करने की प्रेरणा दी। कथा पुरानी है और कालबद्ध दीखते हुए भी एक कालातीत आयाम में घटित होती है। ...तो कहीं पाठक इसे एक पुराकथा यानि वर्तमान से असंबद्ध एक अतीत का घटित भर मानकर छुड़ी न पा ले, इसलिए यह जरूरी था कि उस पुराण सत्य को पाठक अभी और आज के सत्य की तरह ही अपने साथ लेता जाए। वाणी और वीणा को अलग समझने की सुविधा उसे न मिले। और वाणी भी कोई अमूर्त वाणी नहीं, स्वयं इस कविता के कवि

की वाणी: कवि मात्र की, आधुनिक कवि की वाणी।" २

पुराण सत्य को आज और अभी के जिस सत्य के रूप में बदलने अथवा पहचानने की ओर रमेशचंद्र शाह ने संकेत किया है वह वस्तुतः क्या है? क्या वह भौतिक अनुभव का आध्यात्मिक अनुभव में रूपांतरण है? रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इस कविता के संदर्भ में ऐसा ही माना है। उन्होंने लिखा है कि "जिन्हें हम स्थूल भौतिक अनुभव कहते हैं कैसे उन्हीं का रूपांतरण कला, कविता और आध्यात्म के सूक्ष्म स्तर पर होता है 'असाध्य वीणा' की यह रचना समस्या है।" ३

'असाध्य वीणा' के बारे में एक अन्य विचार यह है कि यह कविता आख्यान के ढांचे का उपयोग करते हुए भी अपनी मूल प्रकृति में प्रगीतात्मक है। विद्यानिवास मिश्र के शब्दों में "असाध्य वीणा आख्यान-काव्य होते हुए भी भीतरी स्तर पर गीतिकाव्य है, क्योंकि इसमें कहानी एक ब्याज मात्र है।" ४

इसी बात को नामवर सिंह ने काव्य-संरचना के हवाले से लक्ष्य किया है। उन्होंने इस कविता को 'अनुचिंतन' और 'वर्तुलाकार संरचना' के आधार पर प्रगीत ठहराया है। 'कविता के नए प्रतिमान' के एक निबंध में उन्होंने लिखा है कि "यदि वर्तुलाकार संरचना और अनुचिंतनात्मक कविता पर्याय हैं तो अज्ञेय की लंबी कविता (असाध्य वीणा) अपनी लंबाई के बावजूद एक प्रगीत है। निस्संदेह उसमें एक छोटी सी कथा भी है और नाटकोचित संवाद भी। किंतु भावबोध के स्तर पर पूरी कविता अनुचिंतनात्मक है और संरचना भी वर्तुलाकार है।" ५

विद्यानिवास मिश्र और नामवर सिंह के कथनों से यह आशय निकलता है कि इस कविता में आख्यान की उपस्थिति गौण है, महत्वपूर्ण बात है कविता की प्रगीतात्मकता। किंतु इसके विपरीत यदि आख्यान की दृष्टि से इस कविता का मूल्यांकन करें तो क्या निष्कर्ष निकलते हैं यह भी देखना महत्वपूर्ण हो सकता है। इस नजरिए से सबसे पहली बात यह आती है कि कविता एक अभारतीय कथा से अपनी आख्यान-संरचना ग्रहण करती है जो कि जो कि निश्चय ही एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक स्थिति है। संस्कृति के इतिहास में जिस प्रकार अनेक सांस्कृतिक आख्यान योरप और अरब के देशों से भारत आए और एक नया देश-काल ग्रहण कर अपनी स्वाभाविक संरचना ग्रहण करते गए उसी प्रकार 'टेमिंग ऑफ द हार्प' का यह आख्यान 'असाध्यवीणा' की संरचना में विकसित होता दिखायी देता है।

कार्ल क्रोएबर ने अपनी पुस्तक 'रिटेलिंग/रिरीडिंग दि फेड ऑफ स्टोरीटेलिंग इन माडर्न टाइम्स' में लिखा है कि "कहानियां उन पादप प्रजातियों की तरह हैं, जो आश्चर्यजनक बाधाएं पार करके-जिनमें देश और काल की बड़ी बड़ी दूरियों

से पैदा होने वाली बाधाएं भी शामिल हैं-बड़े आराम से और बड़ी सहजता से दूर-दूर चली आती हैं, चुपचाप विदेशी पर्यावरणों में रच-बस जाती हैं और उन पर्यावरणों को बदल देती हैं।”६

अज्ञेय ने ‘असाध्य वीणा’ के आख्यान को इसी रूप में भारतीय परंपरा और उससे प्राप्त जीवन की प्रकृति में घुला-मिला दिया है। यही वजह है कि ‘टेमिंग ऑफ द हार्प’ का पीवो और ‘असाध्य वीणा’ का प्रियंवद एक ऐसे स्वर-साधक की रचना करते हैं जो व्यक्ति-सत्ता के अहं को विराट-सत्ता के विस्तार में विलीन कर देता है। यही नहीं ‘टेमिंग ऑफ द हार्प’ की पूरी कथा ही असाध्यवीणा के आख्यान में ऐसी घुल-मिल गयी है कि कविता पढ़ते हुए पाठक को कहीं भी इस बात का अहसास नहीं होता कि वह किसी विदेशी कथा का काव्यात्मक रूपांतरण पढ़ रहा है। इस दृष्टि से देखें तो असाध्यवीणा का कथा-ढांचा अवश्य किसी जापानी आख्यान से ग्रहण किया गया है किंतु उसकी मांस-मज्जा और आत्मा पूरी तरह भारतीय है।

अज्ञेय ने आख्यान की भारतीय परंपरा का विश्लेषण करते हुए आख्यान की श्रंखलित अथवा आवर्ती कथा विशेषता को रेखांकित किया है। उनकी दृष्टि में आख्यान की भारतीय संरचना ‘आवर्ती’ संरचना है। ‘सर्जना और संदर्भ’ के एक निबंध में वे लिखते हैं कि “भारतीय आख्यान साहित्य मूलतः आवर्ती रहा है। आवर्ती कथा ही विश्व के आख्यान साहित्य को भारत की विशिष्ट देन है, बल्कि संसार भर में प्रचलित प्रायः सभी आवर्ती कथाओं के प्रारूप अथवा मूल अभिप्रायों का उत्स भारत ही रहा है।”७

‘असाध्यवीणा’ में अज्ञेय ने आख्यान की इसी भारतीय विशेषता का सफल उपयोग किया है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि असाध्यवीणा के आख्यान में, आख्यान की आवर्ती संरचना का सफल निर्वाह हुआ है। आवर्ती संरचना का आख्यान एक बंद कथात्मक संरचना का आख्यान होता है। नयी कविता की यह एकमात्र लंबी कविता है जिसमें आख्यान के इस पारंपरिक ढांचे को पुनर्जीवित किया गया है।

इस कविता में कथा एक ‘वृत्ताकार’ यात्रा तय करती है अर्थात् जिस बिंदु पर कविता आरंभ होती है उसी बिंदु पर आकर विराम भी पाती है। कविता अंत में एक सुखद अनुभूति का प्रसार कर मौन हो जाती है और यही भारतीय आख्यान परंपरा में ‘सुखद अंत’ की धारणा भी है। यही नहीं कविता के आख्यान में आए सभी प्रमुख चरित्र भी वीणा से उत्पन्न संगीत में डूबते हुए एक वृत्ताकार यात्रा ही तय करते हुए जान पड़ते हैं। प्रियंवद गुफा से निकलकर राजा की सभा में आता है, वीणा बजाता है और वापस गुफा में लौट जाता है। इसी प्रकार सभा में उपस्थित सभी जन वीणा से उत्पन्न संगीत में डूब जाते हैं और एकाकी पार उतरते हैं। इसी प्रकार कवि भी पाठक को आरंभ से अंत तक एक कथा सुनाकर मौन हो जाता है। ध्यान देने की बात है कि वीणा से उत्पन्न सांगीतिक अनुभव की यात्रा करते हुए सभी स्मृति के माध्यम में एक वृत्ताकार पथ तय करते हैं। इस वृत्ताकार

यात्रा से गुजरते हुए सभी का किसी न किसी नए अनुभव से साक्षात्कार होता है। प्रियंवद आत्मशोध की प्रक्रिया से गुजरता है और वीणा को साधने में सफल होता है। राजा एवं अन्य सभासद भी एक विशिष्ट क्षण में जिस ज्ञान को प्राप्त करते हैं उसे कविता के एक अंश द्वारा भली भांति समझा जा सकता है। वीणा के झनझना उठने के ठीक बाद-

डूब गए सब एक साथ/सब अलग-अलग एकाकी पार तिरें।

राजा ने अलग सुना:ईर्ष्या, महदाकांक्षा, द्वेष, चाटुता/ सभी पुराने लुगड़े से झर गए, निखर आया था जीवन-काचन/धर्मभाव से जिसे निछावर वह कर देगा। रानी ने अलग सुना:तुम्हारे ये मणि-कंकण, कंठहार, पट-वस्त्र,

मेखला-किंकण-सब अधकार के कण हैं ये। आलोक एक हैप्यार अनन्य ! उसी की

विद्युल्लता घेरती है रस-भार मेघ को/थिरक उसी की छाती पर उसमें छिप कर सो जाती है।

सबने अलग-अलग संगीत सुना।

इसको वह भरी तिजोरी में सोने की खनक/उसे बहुत दिनों के बाद अन्न की सौंधी खुदबुद

किसी एक को चहक मुक्त नभ में उड़ती चिड़िया की।

एक तीसरे को मण्डी की ठेलमेल गाहकों की आस्पर्धा भरी बोलियां,

चौथे को मंदिर की तालयुक्त घंटा-ध्वनि

इसे गमक नट्टिन की एड़ों के घुंघरू की-उसे युद्ध का ढोल।

इसे संझा गोधूली की लघु टुनटुनउसे प्रलय का डमरूनाद सब डूबे, तिरें, झिपे, जागे-हो रहे वशंवद, स्तब्धः

इयत्ता सबकी अलग-अलग जागी, संघीत हुई पा गयी विलया।”८

उपरोक्त पंक्तियां इस दृष्टि से महत्वपूर्ण कि ये ‘असाध्य वीणा’ के केन्द्रीय आख्यान से संबद्ध उन उपाख्यानों को प्रस्तुत करती हैं जो वीणा ‘से उत्पन्न संगीत के प्रभाव के कारण लौटी श्रोताओं की स्मृतियों के माध्यम से प्रतीक रूप में ही सही किंतु व्यक्त हुए हैं। ये उपाख्यान भी उसी महामौन में विलय हो जाते हैं जिसमें कवि की वाणी मौन हो जाती है। महत्वपूर्ण बात यह है कि यह महामौन न तो कवि ने निर्मित किया और न ही प्रियंवद ने-

“वह तो सब कुछ की तथता थी

महाशून्य वह महामौन

अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय

जो शब्दहीन सबमें गाता है।”९

वीणा को साधने के क्रम में प्रियंवद प्रकृति और परिवेश के अनुभवों का स्मरण करता है। स्मृतिगर्भी अनुभवों का ऐसा स्मरण यह बताता है कि सर्जना का सत्य सुजनकार के पूर्व अनुभवों के सत्य के ही आधार पर निर्मित होता है। प्रियंवद ने जिन अनुभवों को स्मरण किया है वे लोक जीवन और प्रकृति से जुड़े बिंबों के माध्यम से ही कविता में अभिव्यक्त

हुए हैं। इन्हीं अनुभवों के स्मरण और किरीटि तरु के प्रति पूर्ण समर्पण के सहारे प्रियंवद वीणा को साधता है, नहीं 'अपने को शोधता' है। और इस प्रकार प्रियंवद जब किरीटि तरु के प्रति जिससे कि वीणा का निर्माण हुआ, अपने अहं का पूर्ण विसर्जन कर देता है तो वीणा बज उठती है।

कविता में आख्यान को विकसित और विस्तारित करने में वाचक(नैरेटर) की अहम भूमिका होती है। 'असाध्य वीणा' में तीन वाचक(नैरेटर) उपस्थित हैं- कवि स्वयं, राजा और प्रियंवद। ये तीनों वाचक कथा के बीच-बीच में वर्णन, संवाद और एकालाप के माध्यम से कथा को आगे बढ़ाते हैं। कवि प्रियंवद के आगमन से कथा आरंभ करता है - आ गए प्रियंवद केशकंबली गुफागोह.....! तब राजा वीणा का इतिहास बताते हुए प्रियंवद को वीणा बजाने के लिए आमंत्रित करता है। तब प्रियंवद किरीटि तरु को संबोधित करते हुए अपने नीरव एकालाप के माध्यम से पाठक को प्रकृति और परिवेश के स्मृति-बिंबों में ले जाता है। प्रियंवद अपने को वीणा को सौंप देता है और वीणा झनझना उठती है। पाठक पुनः राजा की सभा में लौटता है और वहां उपस्थित सभासद श्रोतागणों की चेतना पर पड़ने वाले प्रभावों को बिंबों के रूप में ग्रहण करता है। और फिर इस प्रकार कवि पूरे दृश्य-व्यापार का पटाक्षेप करता है। यह दृश्य-व्यापार भी कवि की वाणी के साथ उस महामौन में विलीन हो जाता है जो कि 'सब कुछ की तथता' थी।

यहां हम यह देख सकते हैं कि तीनों वाचकों का एक निश्चित श्रोता समूह है। कवि पाठक को संबोधित करता है, राजा प्रियंवद को और प्रियंवद किरीटि तरु को।

यद्यपि 'असाध्य वीणा' का नायक प्रियंवद ही है किंतु वह रूढ़ अर्थों में काव्य-नायक की छवि से मुक्त है। वह असल में एक प्रतीक सृष्टि है जिसे हम व्यक्ति सत्ता का प्रतीक कह सकते हैं। एक ऐसी व्यक्ति सत्ता जो जीवन को साधने के क्रम में स्वयं को जीवन को सौंप देती है। अर्थात् वीणा से उत्पन्न संगीत के माध्यम से राजा की सभा में उपस्थित सभी जन उस अनुभव-सत्य का साक्षात्कार करते हैं जो कि प्रियंवद के शब्दों में 'सब कुछ की तथता' थी। यह सब कुछ की तथता कुछ और नहीं बल्कि मानव जीवन का वह आंतरिक अनुभव सत्य है जो राजा और उसके सभासदों को वीणा के संगीत के माध्यम से प्राप्त होता है। प्रियंवद इसी अनुभव-सत्य को वीणा की साधना के माध्यम से अर्जित करता है।

इस तरह प्रियंवद का व्यक्तित्व एक ऐसे कलाकार का व्यक्तित्व है जो अपने अहं को समष्टि के विस्तार में विलीन कर देता है। दूसरे शब्दों में वह मानव-व्यक्तित्व के उन मूलभूत कलात्मक गुणों का प्रतीक है जो कविता में विराट-सत्ता के प्रति व्यक्ति-सत्ता के समर्पण और अहं के विसर्जन द्वारा अर्जित किए गए हैं।

'असाध्य वीणा' के आख्यान की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है उसकी मूल प्रकृति बिंबात्मक है। यहां सपाट कथन-पद्धति की अपेक्षा बिंबात्मक भाषा का उपयोग किया गया है। कविता में दृश्यों और घटनाओं को प्रायः बिंबों के माध्यम से उपस्थित किया गया है। इन बिंबों के माध्यम से कथा को एक निश्चित अनुक्रम में प्रस्तुत किया गया है। जैसा कि पूर्व

में कहा जा चुका है यह अनुक्रम वर्तुलाकार है। इस वर्तुलाकार अनुक्रम में जगह जगह स्थिर और गतिशील बिंब जुड़े हुए हैं। ये सभी बिंब कविता के उस विराट बिंब में लय हो जाते हैं जिसे कि वीणा, प्रियंवद और राजा की सभा मिलकर रचते हैं। यह विराट बिंब वीणा के संगीत से पैदा होता है जिसमें कि राजा की सभा में उपस्थित सभी जन साथ डूबते हैं और अलग-अलग पार उतरते हैं। कविता के इस विराट बिंब में लघु बिंबों के विलयन के माध्यम से ही कवि उस प्रगीतात्मक अनुभव की सृष्टि करता है जिसे कविता में प्रियंवद के नीरव एकालाप और वीणा से उत्पन्न संगीत के सभा पर पड़े विभिन्न प्रभावों के रूप में प्रकृति और लोकजीवन से प्राप्त बिंबों के माध्यम से व्यक्त किया गया है।

ध्यान से देखें तो इस कविता में प्रियंवद को व्यक्ति-सत्ता और किरीटि तरु को विराट सत्ता के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वीणा को यदि 'जीवन' का प्रतीक मान लें तो इस कविता के आख्यान से इस मूल्य की प्राप्ति होती है कि प्रियंवद जैसा सच्चा स्वरसिद्ध ही जीवन की वीणा को झंकृत कर सकता है और झंकृत जीवन बिना किरीटि तरु के प्रति सच्चे समर्पण(अथवा व्यक्ति सत्ता का विराट सत्ता के प्रति समर्पण) के संभव नहीं। यह समर्पण भी अंततः उस अविभाज्य महामौन में विलीन हो जाता है जो कि 'सब कुछ की तथता' थी। प्रियंवद का कविता के अंत में गुफा में वापस लौट जाना इसी 'सब कुछ की तथता' में विलीन हो जाने का प्रतीक है।

संदर्भ

1. रामदरश मिश्र, आधुनिक हिंदी कविता: सर्जनात्मक संदर्भ, पृ. १९८
2. रमेशचंद्र शाह, असाध्य वीणा और अज्ञेय, पृ. २७
3. रामस्वरूप चतुर्वेदी, नयी कविताएं: एक साक्ष्य, पृ. ६३
4. विद्यानिवास मिश्र, रीतिविज्ञान, पृ. १७९
5. नामवर सिंह, कविता के नए प्रतिमान, पृ. १४३
6. कार्ल क्रोएबर की पुस्तक 'रिटेलिंग/रिरीडिंग द फेट ऑफ स्टोरीटेलिंग इन मॉडर्न टाइम्स', पर कथन, जनवरी-मार्च, २००५, में प्रकाशित उत्पल कुमार की समीक्षा, पृ. ८३
7. अज्ञेय, सर्जना और संदर्भ, पृ. २३४
8. अज्ञेय, आंगन के पार द्वार, पृ. ७६, ७७, ७८
9. वही, पृ. ७९

प्रोफेसर, हिंदी विभाग,
जामिया मिल्लिया इस्लामिया केन्द्रीय विश्वविद्यालय नई
दिल्ली-११००२५
फोन: ९८६८०९०९३९



भाषाई राजनीति बनाम बिहार में हिन्दी: वाद और विवाद

डॉ.अजय कुमार

बिहार की हिन्दी विभाषाओं के साथ एक बड़ा दुर्भाग्य यह रहा है कि इनके साथ स्वार्थपरता की स्थानीय राजनीति कई दशकों से होती रही है। क्षेत्रीय भावनाओं एवं मुद्दे को भुनाकर अपनी राजनीति की दुकान चमकाने की क्षुद्र नीति ने बिहारी बोलियों को राजनैतिक विवाद का एक दुःखद मुद्दा बना दिया है। जिस प्रकार स्वतंत्रता के बाद राजनैतिक कारणों से स्थानीयता के उभार ने दक्षिण में हिन्दी - विरोध की हवा तैयार की अथवा बंगाल में प्रारम्भ से ही बंगाली मानुष बनाम (शेष) हिन्दुस्तानी का वातावरण बनाया गया, उसने भारतीय राष्ट्रीयता एवं उदारता की भावना को बुरी तरह आहत किया। इस स्थानीयता के उभार ने भाषा को लड़ाई का सबसे अहम अस्त्र बनाया। स्थानीय समर्थन प्राप्त करने का सबसे आसान उपाय किसी विकसित एवं लोकप्रिय हिन्दी जैसी 'बाहरी' भाषा का विरोध करना हो गया जबकि स्वाधीनता आंदोलन की सुदीर्घ अवधि में यह स्थापित हो चुका तथ्य था कि हिन्दी की प्रकृति एवं स्वरूप अखिल भारतीय है और किसी भाषा विशेष से इसका कोई विरोध नहीं है, सिवाय अंग्रेजी जैसी साम्राज्यवादी भाषा के। हद तो तब हो गयी जब यह विरोध उकटता में भाषाई दंगे की शकल अखिलियार करने लगा। यह अजीब बिडम्बना ही है कि प्रांतीय स्तर पर यह भाषा विरोध की राजनीति बिहार में चमकाने की कोशिशें हो रही हैं जो कि एक हिन्दी भाषा राज्य है लेकिन जहाँ समृद्ध विरासत से सम्पन्न महत्वपूर्ण विभाषाएँ बोली और पढ़ी-पढ़ाई जाती हैं। अस्तु।

बिहार में भाषाई राजनीति का एक प्रमुख पक्ष यह है कि इसमें भाषाओं के बीच आपसी झगड़ेकी आहट अभी नहीं सुनाई पड़ती। सारी कोशिशें एक भाषा -भाषी समुदाय की भाषिक एवं अस्मितागत चेतना को प्रभावित कर उनका समर्थन हासिल करने की है ताकि उनका वोट-बैंक बनाकर अपना राजनैतिक व्यवसाय बढ़ाया जा सके। इस प्रकार का प्रयास सबसे अधिक मिथिला क्षेत्र में देखने को मिलता है। 'मिथिलांचल' शब्द अपने-आप में भाषिक अस्मिता सम्पन्न मैथिल राज्य की अवधारणा को व्यक्त करता है। इसका प्रारम्भ मैथिली बोली को हिन्दी से भिन्न एक महत्वपूर्ण भाषा मानकर संविधान की अष्टम अनुसूची में स्थान दिलाने को लेकर हुआ और आगे चलकर मैथिली केवल बिहार के विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में शामिल की गयी वरन् बिहार लोक सेवा आयोग में भी प्रशासनिक अधिकारियों के चयन हेतु आयोजित परीक्षाओं में मुख्य परीक्षा के एक वैकल्पिक विषय के रूप में मान्य हुई। यहाँ तक तो ठीक है। किसी स्थानीय भाषा का विकास हो, उसमें उच्च अध्ययन की सुविधा हो, नये शोध हों- यह

आवश्यक भी है पर क्या मामला यहीं तक रूकता है? मैथिली समर्थन चूँकि हिन्दी विरोध पर खड़ा किया गया है इसलिए समर्थकों के एक वर्ग ने हिन्दी के व्यापक स्वरूप और उसकी मूल अवधारणा को समझे बिना उसके विरोध का झण्डा उठा लिया। हिन्दी को राक्षसी भाषा तक कहा गया जो दूसरी भाषाओं का भक्षण कर लेती है। लेकिन आम तौर पर मैथिली समर्थन के मूल में 'मिथिलांचल' राज्य के गठन का मामला रहा अथवा उसको एक स्वतंत्र राजनैतिक इकाई के रूप में देखने और अपने प्रभाव-क्षेत्र में रखने का ही ध्येय मुख्य रहा।

मैथिली के इस आंदोलन ने भोजपुरी मानस को प्रभावित किया। यह देखना दिलचस्प है कि भोजपुरी को हिन्दी के समानांतर उसके प्रभाव क्षेत्र से निकालकर एक स्वतंत्र विकसित एवं साहित्य सम्पन्न भाषा के रूप में संवैधानिक मान्यता दिलाने का सुगठित प्रयास अभी कुछ वर्ष पूर्व आरंभ हुआ है जबकि मैथिली के मुकाबले भोजपुरी भाषा-भाषियों की संख्या कई गुनी अधिक है। मैथिली बिहार के एक खास भू-भाग में बोली जाती है जबकि भोजपुरी की व्यापकता उत्तर बिहार में सारण से चंपारण तक, दक्षिण बिहार में भोजपुर से भभुआ तक सम्पूर्ण पूर्वी उत्तर प्रदेश (पूर्वांचल) से लेकर विदेशों में सुरीनाम, ट्रिनिडाड, टोबैगो, मारोशस आदि तक है। लेकिन शायद विद्यापति के समृद्ध एवं लोकप्रिय साहित्य और प्रचुर लोकसाहित्य की विरासत ने जॉर्ज ग्रियर्सन के परोक्ष सहयोग से हिन्दी के समानांतर मैथिली भाषियों में भाषाई अस्मिता का भाव जगाने में अधिक प्रभावी रहा। भोजपुरी भाषियों के प्रयास से इतना तो अवश्य हुआ कि भोजपुरी में लोक साहित्य का संकलन किया गया, उसका व्याकरण तैयार किया जाने लगा। भोजपुरी में साहित्य की रचना की जाने लगी और एक विषय के रूप में भोजपुरी आरा, मुजफ्फरपुर एवं सारण के विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाने लगी। अकादमिक उद्देश्यों से भोजपुरी साहित्य का इतिहास लिखा जाने लगा और अब इसे भी संविधान की अष्टम अनुसूची में स्थान दिलाने की मुहिम जारी है।

बिहार की तीनों बोलियों में भाषाई राजनीति की दृष्टि से सबसे उदासीन अथवा संयत स्थिति मगही की है। गया इसका केंद्र है और उत्तरी भागलपुर एवं पश्चिमी भोजपुरी भाषी बिहार को छोड़ दें तो समस्त दक्षिण बिहार मुख्यतः मगही भाषी है। मगध प्रदेश में बोली जाने वाली मागधी (मगही) का महत्त्व इस बात से जाना जा सकता है कि यह उस भू-भाग की बोली है जो कभी राजनीतिक रूप से विश्व का सबसे शक्तिशाली राज्य हुआ करता था। मगही महान मागध एवं

मौर्य सम्राटों और उनकी जनता की भाषा थी। इसीलिए यहाँ की प्राकृत का नामकरण 'मागधी प्राकृत' किया गया। जैसा कि पूर्व में संकेत किया गया, जॉर्ज ग्रियर्सन ने मागधी प्राकृत से बिहारी बोलियों का उद्भव मानते हुए इन्हें हिन्दी के बाहर बांग्ला, उड़िया आदि के वर्ग से जोड़ने की कोशिश की क्योंकि उन्होंने इन हिन्दीतर भाषाओं का उद्भव बिहारी बोलियों के समान ही मागधी प्राकृत से माना। बहरहाल, इस पर विस्तृत चर्चा यहाँ अभीष्ट नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस वर्गीकरण और हिन्दी विभेद का समुचित उत्तर अपने साहित्योतिहास में दे दिया है, विद्यापति को हिन्दी का कवि घोषित करते हुए।

मगही में लोक साहित्य पर्याप्त मात्रा में और प्राचीन काल से प्राप्त होता है पर इसमें प्राचीन रचनाकारों की रचनाएँ प्रायः नहीं मिलतीं जैसे विद्यापति आदि की मैथिली में लेकिन मगही क्षेत्र राजनैतिक चेतना से खाली नहीं है और इसका प्रामाण्य यह कि बिहार में कोई भी जनांदोलन प्रायः यहीं से आरंभ होता है। रूढ़ियों के प्रति विद्रोह यहीं अंकुरित होते हैं और बिहार में सामंतशाही और जातीय दबंगता एवं शोषण के खिलाफ सर्वप्रथम यही नक्सल आंदोलन की प्रयोग-भूमि बनती है। इसीलिए परंपरापूजकों के लिए यहाँ के बाशिंदे उपेक्षा और हास्य का पात्र रहे हैं। इतनी प्रबल राजनैतिक चेतना के बावजूद यदि मागधी में मगही को लेकर कोई राजनैतिक महत्त्वाकांक्षा नहीं जगी तो इसे उनका हिन्दी के प्रति सार्थक भाव और सहिष्णुता ही समझा जाना चाहिए। १

स्थानीयता की राजनीति में भाषा के औजार के रूप में इस्तेमाल के कुछ के सार्थक परिणाम भी आये। इस राजनीति का एक बाई-प्रोडक्ट यह हुआ। कि उन बोलियों की साहित्यिक विरासत काफी कुछ संकलित कर ली गयी और सम्बन्धित भाषा-भाषियों में महत्त्वपूर्ण भाषिक एवं साहित्यिक चेतना का विकास हुआ। इस चेतना उभार से ये विभाषाएँ समृद्ध हुईं। सरकारी प्रयास से इनसे सम्बद्ध अकादमियों की स्थापना कर इन भाषाओं और इनके साहित्य के विकास के प्रयास किये जा रहे हैं और सरकार इनके लिए वार्षिक बजट तैयार करती है। लेकिन आज यह एक कटु सचाई है कि मैथिली, भोजपुरी और मगही के उत्थान के लिए बनी ये अकादमियाँ अपने लक्ष्य से भटक गयी हैं।

प्रश्न है कि हिन्दीतर भाषा - चेतना के नाम पर ही प्रांत में विभाषाओं को अनेकता का बीज बोने का जरिया कैसे बनने दिया जा सकता है? जबकि सचाई यह है कि बिहार की तमाम बोलियाँ एक-दूसरे से इतना साम्य रखती हैं कि उनकी मौलिक एकता से कोई इन्कार नहीं करता। शब्द-संपदा अथवा शब्द-रूप दोनों ही दृष्टियों से बिहार की इन बोलियों की एकता सुस्पष्ट है। भोजपुरी का 'लड़का' मगही में भी समान है। सम्बन्ध सूचक शब्द प्रायः समान हैं। सर्वनाम भी मिलते-जुलते हैं। भोजपुरी कैसे दूसरी बिहारी बोलियों से एकाकार होती है यह डॉ० हरदेव बाहरी ने दिखलाया है। २ "बहुवचन में संज्ञा अपरिवर्तित रहती है। अधिक स्पष्टता

अपेक्षित हो तो 'लोग' या 'लोगन' शब्द जोड़ दिया जाता है। तिर्यक रूप न से होता है, जैसे ब्रजभाषा या अवधी में। हम-तुम का बहुवचन हमनीका, तुहनीका होता है। परसर्ग अवधी से मिलते हैं। क्रियापदों में 'लः' की प्रधानता मागधी प्रभाव के कारण है। मगही और भोजपुरी में बहुत कम अन्तर है। वचन के रूपों में कुछ भी अन्तर नहीं। संज्ञा और सर्वनाम के जो परसर्ग भोजपुरी में हैं, मगही में उनके अतिरिक्त भइल प्रयुक्त होते हैं। क्रिया के रूप भोजपुरी से मिलते-जुलते हैं। अंतर यह है कि एक तो सहायक क्रिया हिन्दी की तरह है, भले ही उसका रूपांतर भोजपुरी बाटे और हुआ के समान होता है (मगही में भइल का भलई)। अन्य पुरुष में ऐसे योग सामान्य रूप से पाये जाते हैं। इन बातों में यह मैथिली के निकट है। ३

डॉ० बाहरी ने मैथिली का तो व्याकरणिक साम्य दिखलाया ही है: "प्रायः उच्चारण संबंधी विशेषताएँ अवधी और भोजपुरी के समान हैं, किन्तु मैथिली में एक तो मध्यम श.ष.स के सथान पर संयुक्त अक्षर में भी 'ह' हो जाता है, जैसे पुहप, माहटर में एवं ह्य का उच्चारण 'झ' करके होता है जैसे ग्राह्य गज्झय।" ४

बोली के रूप में मैथिली की एक बड़ी विशेषता है सहायक क्रिया 'छ' रूप भूतकाल 'ल' रूप और भविष्यत 'व' रूप। अन्यथा मैथिली देखलय (उसको देखा) मगही: देखलकै; देखलथिन्हि (मै०), देखलकेक (मै०-), देखलकै(म), रहैन्हि (मै०), हलथिन (म०), छलैक (मै०), हलै (म०) में कितनी भिन्नता है? ये कुछ दृष्टांत अत्यंत संक्षेप में दिये गये हैं अन्यथा ये विभाषाएँसगी बहनों के समान इतनी मिलती हैं कि कई जगह बाहरी लोगों के लिए इन्हें अलगाना कठिन हो जाय।

यह तो हुई मैथिली, मगही और भोजपुरी से जुड़े मुद्दों की बात। अब जरा इन विभाषाओं के आपसी संबंधों पर नजर डालिए। अंग क्षेत्र की बोली हैअंगिका। अंग क्षेत्र यानी भागलपुर और मुंगेर का मिला-जुला भू-भाग। यहाँ की भाषा मगही और मैथिली का मिला-जुला रूप है। ५ भाषा की शुद्धता और मैथिली के साहित्य पर अंगिका वालों का अपना पक्ष है। वे मैथिली की अपेक्षा अंगिका को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इसी प्रकार वैशाली मुजफ्फरपुर के आस-पास की बोली बज्जिका है। आजकल इसी के नाम पर 'बज्जिकांचल' का भी नारा कुछ लोग शान से बुलंद कर रहे हैं। यह बज्जिका एक ओर तो पश्चिम में भोजपुरी को छूती है तो उत्तर में मैथिली को और दक्षिण में मगही को इस प्रकार इस पर तीनों का प्रभाव दिखता है। एक भाषा (हिन्दी) के अन्तर्गत विभिन्न बोलियों में पारस्परिक एकरूपता तो स्वाभाविक है परन्तु एक क्षेत्र-विशेष की बोलियों में यह समानता कुछ अधिक दिखाई पड़ती है। यही स्थिति बिहारी बोलियों के साथ मध्यदेशीय भाषा अवधी आदि के संबंध में कही जा सकती है। अवधी पूर्वी हिन्दी की बोली है जो अर्धमागधी प्राकृत अपभ्रंश से निकली है। उससे पूर्वी सीमा से सटे पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के पश्चिमी भू-

भाग में प्रचलित भोजपुरी है जो मागधी प्राकृत अपभ्रंश से विकसित है। इससे यह तो स्पष्ट है कि अर्ध-मागधी और मागधी की बोलियों में भिन्नता कम और एकरूपता अधिक है। व्याकरणिक दृष्टि से भी देखा जाय तो इन तमाम भाषाओं में शब्द-संपदा की दृष्टि से सर्वाधिक समानता है। वस्तुतः हिन्दी की तमाम बोलियों को एक सूत्र में जोड़ने वाली जो कड़ी है वह है शब्दावली का ऐक्यता। इसी को लक्ष्य कर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'इतिहास' में लिखा-

“ पर केवल भाषाशास्त्र की दृष्टि से कुछ प्रत्ययों के आधार पर ही साहित्य सामग्री का विभाग नहीं किया जा सकता। कोई भाषा कितनी दूर तक समझी जाती है, इसका विचार भी तो आवश्यक होता है। किसी भाषा का समझा जाना उसकी शब्दावली (वोकैब्युलरी) पर अवलम्बित होता है। यदि ऐसा न होता तो उर्दू और हिन्दी का एक ही साहित्य माना जाता। खड़ी बोली, बागडू, ब्रज, राजस्थानी, कन्नौजी, बैसवारी, अवधी इत्यादि में रूपों और प्रत्ययों का इतना भेद होते हुए भी सब हिन्दी के अन्तर्गत मानी जाती हैं। इनके बोलने वाले एक-दूसरे की बोली समझते हैं। कारण है शब्दावली की एकता।” ६

परसर्ग, सर्वनाम, शब्दों में लगने वाले प्रत्ययों आदि के कारण ही मूलतः ये बोलियाँ एक दूसरे से भिन्न स्वरूप रखती हैं अन्यथा उनकी एकता सुस्पष्ट है। इस एकरूपता और एकात्मता का सजीव दृष्टांत देखना हो तो समस्त मध्य एवं पूर्वी हिन्दी क्षेत्र में अवधी में रचित रामचरितमानस की लोकप्रियता और घर-घर में किये जाने वाले उसके पाठ को देखा जा सकता है। उसे समझने में किसी निरक्षर व्यक्ति को भी, चाहे वह ब्रज भाषी हो, भोजपुरी भाषी, मगही भाषी अथवा मैथिली भाषी या कोई अन्य, कोई समस्या नहीं आती, न उसके रसास्वादन में कोई बाधा आती है। इसी प्रकार मैथिली के विद्यापति जितना मिथिला में लोकप्रिय हैं उतना ही मगही या अवधी भाषी लोगों में। बोलियों की यह एकात्मता हम हिन्दी भाषी लोगों को सांस्कृतिक रूप से एक सूत्रबद्ध करने का कार्य करती है।

तात्पर्य यह कि ये तमाम बोलियाँ भौगोलिक कारणों से परस्पर भिन्न हुई हैं और सांस्कृतिक एवं भौगोलिक स्थानीयता के प्रभावस्वरूप भाषा दूसरे से विशेषता धारण करती है अन्यथा यह सुस्पष्ट है कि एक हिन्दी भाषा-मण्डल के अन्तर्गत आने वाली ये उसकी सगी बोलियाँ हैं। इसी प्रकार यह भी स्पष्ट है कि भाषाई अस्मिता के नाम पर ये भाषाई आंदोलन संकीर्ण क्षेत्रीयता से उपजी टुच्ची राजनीति की देन हैं। इसे ही एक भाषाविद् ने 'थिंक ग्लोबल ऐक्ट लोकल' होना कहा है। ७यानी ज्ञान के प्रसार के साथ वैश्वीकरण का नारा भी दिया जाएगा और वास्तविक आचरण उसके प्रतिकूल होगा जो उसी क्षेत्रीय संकीर्णता का पोषण करेगा। अमरनाथ जी ने अपने जनसत्ता बाले लेख में यह दिखलाने की कोशिश की है कि यदि हिन्दी की तमाम बोलियाँ (जिनमें अवधी, ब्रजभाषा आदि सर्वाधिक

महत्त्वपूर्ण साहित्यिक भाषाएँ रही हैं) हिन्दी से अलग अपने अस्तित्व की घोषणा करें और संविधान की अष्टम अनुसूची में शामिल होना चाहें तो हिन्दी के पास बचेगा क्या? एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न उन्होंने उठाया है कि क्षेत्रीय भाषाओं के पक्ष में आंदोलन चलाने वाले क्या उन भाषाओं को अपने बच्चों की शिक्षा का माध्यम बनाएँगे? नहीं। वे तो हिन्दी माध्यम विद्यालयों में भी जाना गुरेज नहीं करते। तब यह तमाम कसरत किसलिए? उसी टुच्ची राजनीति की कोख से उत्पन्न अस्मिता-बोध के लिए।

भारत में कई दर्जन महत्त्वपूर्ण भाषाएँ और उन भाषाओं के अन्तर्गत सैकड़ों स्थानीय बोलियाँ बोली जाती हैं। यदि ये सभी अस्मिताबोध की अविवेकी बीमारी से ग्रस्त हो जायँ तब भारत गणतंत्र का ईश्वर ही मालिक है। इसके शायद इतने टुकड़े हो जायँ जितने आजादी के समय थे। तब राष्ट्र के लिए सोचने वाले समर्पित लोग थे जिन्होंने तमाम विरोधाभासों और विविधताओं का शमन कर देश को एक संघ में जोड़ा था। अब 'थिंक ग्लोबल-ऐक्ट लोकल' वाले कर्णधारों से हम क्या उम्मीद करें? उम्मीद एक ही है। ऐसे स्वार्थी लोगों के असली चेहरे यहाँ की जनता पहचाने और उन पर पड़े नकाब को नोच फेंके। यह जनता ही भाषाओं के शाश्वत संबंधों को पहचानेगी और भाषाई अस्मिता की राजनीति करने वालों को दरकिनार कर देगी। इसी से भारत भी बचेगा, बिहार प्रांत भी बचेगा। और हम भी बचे रहेंगे, अपनी समृद्ध विरासत के साथ।



१ संदर्भ:-

मगही की उपेक्षा को लेकर भी अब असंतोष जाहिर हो रहे हैं। देखिए- 'मगही सुजाता', स्मारिका, स्नातकोत्तर मगही विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया में प्रकाशित आलेख 'ई दुरंगी-नीति कब तक', पृष्ठ ४०

२ हिन्दी: उद्भव, विकास और रूप, डॉ० हरदेव बाहरी, पृष्ठ ७१

३ वही, पृष्ठ ७२

४ वही

५ कतिपय भाषाविद् अंगिका को मैथिली का एक रूप मानते हैं, देखिए- 'भाषा विज्ञान और भाषाशास्त्र' (डॉ० कपिलदेवद्विवेदी) पृष्ठ-४७८

६ हिन्दी साहित्य का इतिहास, ना० प्र० सभा, सं० २०४५, पृष्ठ ४१

७ जनसत्ता, नयी दिल्ली, दिनांक ०१/०७/२०१२ में प्रकाशित श्री अमरनाथ का लेख।

डॉ० अजय कुमार

हिन्दी-विभाग

जयप्रकाश विश्वविद्यालय

छपरा- ८४१३०२

मो० ९४७१०३६८८४

वो एक खुदकुशी

गिरीश पंकज

१५ अगस्त, सन् २०१४ को नवरंगपुर के लोग शायद कभी नहीं भूल पाएँगे।

इसी दिन रामकुमार 'व्यथित' ने 'आदर्श एंक्लेव' के पाँचवें माले के अपने फ्लैट में खुदकुशी कर ली थी।

रामकुमार न असफल प्रेमी था, और न कोई व्यापारी, जो किसी से धोखा या घाटा खाने के कारण अपनी जान दे दे। रामकुमार बेहद आम आदमी किस्म का खास जीव था। उसके नाम के साथ 'व्यथित' तखल्लुस लगा होने के कारण कभी-कभी लोग उसे कवि समझ लेते थे, पर वह कवि नहीं था। साहित्य से उसका केवल इतना ही नाता था कि उसे कवि सम्मेलनों में जा कर कविताएँ सुनने का बड़ा शौक था, और अच्छी-अच्छी पुस्तकें पढ़ने की आदत थी।

शिक्षा विभाग में लिपिक के पद पर कार्यरत रामकुमार को उसके घर और बाहर के लोग 'महाबोर' के नाम से पुकारा करते थे। हर घड़ी देश-दुनिया और समाज के पतन का रोना रोते रहने के कारण ही लोग उसे 'व्यथित' कह कर पुकारने लगे थे। रामकुमार को अपनी ये नई उपाधि इतनी पसंद आई कि वह खुद अपने नाम के साथ व्यथित लिखने लगा था।

रामकुमार हर घड़ी सामाजिक परिवेश को ले कर दुःखी रहता था। अखबारों को देखना तो उसने बहुत पहले ही छोड़ दिया था। जब भी अखबार देखता, तो उसके शीर्षक उसे दुःखी कर देते थे :

- ... "युवती से सामूहिक बलात्कार"
- ... "नाबालिग के साथ कुकर्म"
- ... "घर के वृद्ध की हत्या करके नौकर फरार"
- ... "पुलिस प्रताड़ना से युवक ने खुदकुशी की"
- ... "देश का अरबों रुपया स्विस बैंक में"
- ... "दो लड़कियों ने रचाई आपस में शादी"
- ... "नाबालिग लड़की प्रेमी के साथ भागी"
- ... "दहेज के लिए बहू को जला कर मार डाला"
- ... "भ्रष्टाचार के आरोप में फलौ-फलौ को जेल"

.... "बेटे ने की माँ-बाप की हत्या"

ऐसी अनेक खबरों से भरे अखबारों को पढ़ते ही रामकुमार विचलित हो जाता था। लोग उसे समझाते भी थे कि 'बेगानी शादी में अब्दुल्ला दीवाना जैसी हरकतें बंद करो', ... 'तुम तो मस्त रहो मस्ती में', आग लगे बस्ती में' : मगर रामकुमार पर कोई असर नहीं होता था। टीवी चैनलों के धारावाहिकों को देख कर भी रामकुमार अक्सर बेचैन हो उठता। परिवारों में साजिश, अवैध संबंधों का मायाजाल, रीयल्टी शोज़ के नाम पर अश्लीलता का प्रसार, और शादी-ब्याह के इर्द-गिर्द मंडराते वाहियात किस्म के धारावाहिकों को देख-देख कर रामकुमार टेंशन में आ जाता। इन्हें देखना उसे समय की बर्बादी लगती थी। चैनलों की भाषा सुन-सुन कर भी वह दुःखी हो जाता कि ये लोग हिंदी की हत्या करने पर तुले हैं।

इन्हीं सब बातों से परेशान हो कर रामकुमार पुस्तक-पत्रिकाएँ पढ़ने के लिए घर का कोई कोना खोज लेता।

दफ्तर से घर लौटने के बाद रामकुमार अक्सर किताबों में ही खोया रहता। पहले वह अपने वृद्ध-बीमार माता-पिता के पास जा कर कुछ देर बैठता, उनसे बतियाता, उनका हाल-चाल पूछता, फिर पत्नी चंद्रकला से थोड़ी-बहुत बातें करता। हाइस्कूल में पढ़ने वाले बेटे विश्वास और बेटी आशा को मुस्करा कर देखता, और उसके बाद मुँह-हाथ धो कर कोई पुस्तक पढ़ने लग जाता। कभी जब मन होता, तो इवनिंग वॉक कर के भी आ जाता, लेकिन वह किसी के पास जा कर गप्पें मारने की आदत से मुक्त हो चुका था। पहले वह आस-पास के लोगों के पास बैठने जाता था, मगर जब उसने देखा कि आपसी बातचीत में केवल परनिंदा ही केंद्र में रहने लगी, तो उसे लगा इससे अच्छा है घर बैठो और सत्साहित्य पढ़ो। जीवन में कभी कोई भला काम न करने वाले लोग अपने में ही मगन दिखे। अपने घर को सजा रहे हैं, मगर आत्मा कलुषित हुई जा रही है। नया वाहन खरीद कर उसी में इतरा रहे

हैं, मगर जीवन की गाड़ी कंडम हो चुकी है। ऐसे खोखले लोगों के बीच रामकुमार का दम घुटता था, इसलिए उसने सब से किनारा कर के पुस्तकों से यारी कर ली, और सुख-चैन से रहने लगा।

सार्वजनिक पुस्तकालय का वह नियमित पाठक था। रामकुमार की पढ़? की आदत देख कर लाइब्रेरियन शर्मा बहुत खुश होता और कहता- "एक आप ही हैं, जो इन आलमारियों में कैद पुस्तकों को मुक्त करते रहते हैं। अब तो पढ़?-लिखने वाले खत्म होते जा रहे हैं। जिसे देखो, बस देखना चाहता है। न तो पढ़? चाहता है, न विचारना।"

लाइब्रेरियन की बात सुन कर रामकुमार मुसकरा देता।

एक दिन बच्चों की ज़िद के कारण घर पर इंटरनेट लग गया, तो रामकुमार को जैसे एक सच्चा साथी मिल गया। लोगों से उसने 'ब्लॉग' के बारे में सुना, तो उसने भी उत्साह में आ कर अपना एक ब्लॉग बना लिया, लेकिन समस्या यह थी कि ब्लॉग में लिखे तो क्या लिखे? बाकी लोग अपने-अपने ब्लॉगों में अपनी कविताएँ, अपना चिंतन, अपने साहित्यिक विचार या लघुक थाएँ आदि 'पोस्ट' कर देते थे, लेकिन रामकुमार में सृजन की वैसी मौलिक प्रतिभा नहीं थी, इसलिए उसने ब्लॉग छोड़ कर अपना 'फेसबुक' एकाउंट खोल लिया। मन की बात कहने के लिए उसे फेसबुक सशक्त माध्यम लगा। लाखों साधारण-असाधारण लोग फेसबुक के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करने की कोशिशें कर रहे थे।

रामकुमार लगभग हर रोज अपने विचार फेसबुक की 'वॉल' पर दर्ज कर दिया करता था। कहीं पुलिस गोली चलती या लाठियाँ भाँजती, तो रामकुमार व्यथित ने फेसबुक पर प्रतिवादस्वरूप चार पंक्तियाँ लिख देता था- "लोकतंत्र के लिए आज का दिन शर्मनाक है।...पुलिस ने अपने ही लोगों को बेरहमी से मारा-पीटा।....क्या लोकतंत्र में अपनी बात कहने की भी आजादी नहीं है?... शर्म करो, पुलिस, शर्म करो।...और वो सरकार भी डूब मरे, जो अपनी जनता का दमन करती है।"

दुनिया में कहीं भी कोई बड़ी चिंतनीय घटना होती, तो रामकुमार की टिप्पणी हाजिर हो जाती। रामकुमार के विचारों को अनेक लोग पसंद करते और कुछ लोग उस पर अपने 'कमेंट्स' भी देते। इससे रामकुमार को बड़ा संतोष मिलता। उसे लगता, यह अच्छा तो माध्यम है। मन की

पीड़ा को स्वर तो दे रहा हूँ। दुनिया में कोई तो है, जो उसकी बातों को सुन रहा है।

रामकुमार कभी 'ट्विटर' में जा कर अपने विचार 'ट्वीट' कर देता, तो कभी 'वाट्सएप' में कुछ लिख देता, लेकिन फेसबुक की लोकप्रियता कुछ ज्यादा नज़र आई, तो उसने फेसबुक को ही अपनी अभिव्यक्ति का स्थाई साधन बना लिया। धीरे-धीरे वह फेसबुक का चिर-परिचित चेहरा बन गया। देखते ही देखते उसके पाँच हजार से ज्यादा दोस्त भी हो गए। हालांकि फेसबुक के माध्यम से होने वाली दोस्ती केवल आभासी दोस्ती थी। एक छलावा भर है कि कुछ दोस्त हैं। कुछ लोगों को मुगालता हो जाता था कि उनके इतने दोस्त हैं। जबकि कोई फेसबुकिया दोस्त सामने आ जाए, तो कोई पहचान ही न पाए। याद करना पड़े कि इस नाम का कोई दोस्त भी है। सैकड़ों लोग एक-दूसरे को 'फ्रेंड रिक्वेस्ट' भेजते और उसे स्वीकृत करते रहते। भूले से कोई दोस्त अगर अपने किसी फेसबुकिया दोस्त से कभी मिलने चला जाए, तो सामने वाला कुछ ऐसा व्यवहार करता, मानो कोई बोज़ आ गया हो। इस बारे में नागपुर के विकल्प साहू ने फेसबुक के माध्यम से अपने इस कटु अनुभव का उल्लेख भी किया था, जब वह कादिवली के अपने फेसबुक मित्र रोहित से मिलने पहुँचा, तो उसे उसने 'सॉरी, आइ हैव नो टाइम' कहते हुए विकल्प को बाहर से ही लौटा दिया था। फिर भी फेसबुक लोगों से जुड़ाव का एक जरिया तो था ही, जहाँ रामकुमार व्यथित अपनी हर व्यथा की कथा को बयां कर दिया करता था।

रामकुमार बेहद बावुक किस्म का जुनूनी जीव था। एक बार वह एक कसाईखाने को बंद करवाने के लिए तीस साल से चल रहे आंदोलन में अपनी गिरफ्तारी देने देवनार तक चला गया था। गो वध बंद करने की माँग को ले कर दिल्ली में जब संतों ने धरना दिया था, तो उसमें भी शामिल हो गया था। बाबा रामदेव के आंदोलन में शामिल होने के लिए भी वह बिन बुलाए दिल्ली पहुँच गया था। विदेशी बैंकों में भारतीयों के अरबों डॉलर रुपये जमा है। उसे वापस लाने की माँग को ले कर जब बाबा ने रामलीला मैदान में अपना आंदोलन शुरू किया था। रात को बारह बजे जब पुलिस वालों ने सोते हुए आंदोलनकारियों पर जम कर डंडे बरसाए थे, तो उसमें रामकुमार भी बुरी तरह घायल हुआ था। सिर पर पट्टी बाँध कर जब वह घर लौटा, तो पूरा परिवार दुःखी हो गया था।

पिता ने नाराज हो कर बोले थे- "मैं पूछता हूँ कि तुम दिल्ली क्यों चले गए थे? घर बैठे आंदोलन को समर्थन नहीं दे सकते थे? लेकिन तुम तो फितूरी हो। बिना दिल्ली जाए तुमको चैन नहीं पड़ता। इसे ही कहते हैं, आ बैल मुझे मार।"

पत्नी ने कहा- "अरे, आप अपने फेसबुक पर ही लिख देते कुछ। उती दूर जाने की जरूरत का थी? वो भी अपना पैसा खर्च करके? कभी-कभी तो हद ही कर देते हैं आप। वैसे भी पैसों की किल्लत बनी रहती है, उस पर आप...?"

रामकुमार व्यथित खामोश रहा। उसने कुछ नहीं कहा। जब रामकुमार दफ्तर चला गया, तो उसकी अनुपस्थिति में घर के लोग आपस में चर्चा शुरू कर दी :

... "कहीं मेरे बेटे पर किसी ने कुछ कर कुरा तो नहीं दिया? जादू-टोना? कई बार तो बिल्कुल असामान्य हरकतें करने लगता है।" माँ परेशान हो कर बोली।

... "क्या एक बार किसी मनोचिकित्सक को दिखा दिया जाए?" पत्नी ने प्रस्ताव रखा।

... "हाँ, दिखा देना चाहिए। लेकिन पहले घर में हवन-पूजन करवा भी लेना ठीक रहेगा। रामू पर अगर कोई बुरी छाया पड़ी होगी, ता भाग जाएगी।" पिता ने सुझाव दिया।

लेकिन प्रश्न यही था कि रामकुमार से कौन बोले? वह भड़क गया तो? फिर भी पिता के कहने पर चंद्रकला ने घर में हवन-पूजन का कार्यक्रम करा लिया गया। रामकुमार को असली कारण नहीं बताया गया। जब रामकुमार ने अचानक हवन-पूजन का कारण पूछा, तो चंद्रकला ने इतना ही कहा, "माता-पिता के स्वास्थ्य की मंगल कामना के लिए यज्ञ करवाया जा रहा है।" रामकुमार भी उत्साह के साथ पूजा में शामिल हुआ। धर्म से उसे परहेज नहीं था, मगर वह कर्म-काँड का घोर विरोधी था। सबकी इच्छा थी, तो उसने अपनी सहमति दे दी थी।

कुछ दिन सब ठीक चलता रहा। रामकुमार के असंतुष्ट स्वर नहीं सुनाई पड़े, तो एक दिन पिता ने कहा- "देखा बहू, पूजा का असर। इन सब चीजों का प्रभाव तो पड़ता ही है। कोई माने न माने।"

एक दिन रामकुमार फिर सनक गया।

अन्ना हजारे ने भ्रष्टाचार के खिलाफ मुहिम छेड़ दी,

तो रामकुमार की दिनचर्या फिर बदल गई।

वह दिल्ली तो नहीं गया, पर नवरंगपुर में ही चल रहे आंदोलन में पूरी तरह से सक्रिय हो गया था। अपने कार्यालय से अवकाश ले कर दस दिनों तक रामकुमार धरना स्थल पर जा कर डट गया। था. 'मैं भी अन्ना' वाली टोपी पहन कर वह प्रसन्नता के साथ देर रात घर लौटता था। दिन भर धरने पर बैठे लोगों के साथ-साथ रामकुमार भी भ्रष्टाचार के खिलाफ जोशीले नारे लगाता था। कोई सामूहिक गीत गाता, तो पीछे खड़े हो कर वह भी उन्हें दुहराता और ताली बजाता। धरना स्थल के आसपास की सफाई करना, लोगों को पानी पिलाना, खाना खिलाना, माइक ठीक करना, कुर्सियाँ सजाना आदि अनेक काम अपनी ओर से करता और प्रसन्न रहता।

उसकी प्रसन्नता देख कर उसे जानने वाले कुछ लोग आपस में चर्चा करते- "यार, ये रामकुमार अब व्यथित की जगह उत्साहित कैसे हो गया?"

दूसरा कहता- "मानना पड़ेगा इसको भी। समर्पित जीव है। दिन-रात लगा है आंदोलन में। वह भी पर्दे के पीछे रह कर।... बाकी लोग तो मीडिया में छाए रहने के लिए सामने आकर नारे लगाते हैं, मगर रामकुमार हमेशा पीछे ही रहता है। कभी किसी चैनल को अपनी छोटी-सी 'बाइट' भी नहीं दी।... किनारे बैठ कर ही खुश रहता है।... ऐसे लोग आजकल खोजने से भी नहीं मिलते।"

लोग हैरान थे कि रामकुमार में इतना बड़ा परिवर्तन कैसे आ गया।

कुछ दिन बाद आंदोलन समाप्त हो गया, तो रामकुमार फिर अपनी पुरानी दिनचर्या में आ गया।

शाम को घर लौटता पुस्तक वगैरह पलटने के बाद थोड़ी देर के लिए नेट पर बैठ जाता। फेसबुक खोल कर देखता कि उसकी 'वॉल' पर उसके दूसरे आभासी-अनजान किस्म के मित्रों की गतिविधियाँ क्या रहीं? किसने, क्या पोस्ट किया? फिर वह भी अपने मन की बात लिख देता। कभी किसी शायर की कविता, कभी अपने टूटे-फूटे विचार। वह अपने विचारों को 'पोस्ट' करता और थोड़ी देर बाद ही प्रतिक्रियाएँ आनी शुरू हो जातीं। कोई उन्हें पसंद करता, तो कोई तारीफ़ में एक-दो पंक्तियाँ भी लिख देता था। आजकल बहुत से लोग लेपटॉप ले कर चलते हैं। दफ्तर में खाली समय मिलने पर लेपटॉप में फेसबुक को देखना, फेसबुक की 'वॉल' पर कुछ लिखना, मित्रों के साथ चैटिंग

करना, काम की-बेकाम की साइटों को खँगलना और शाम होते ही घर लौट आना। रामकुमार को अपने विचारों पर जब दो-चार लोगों की भी टिप्पणियाँ मिल जातीं, तो उसे लगता कुछ रिस्पांस तो मिला। रामकुमार इतने से ही खुश हो जाता।

लेकिन धीरे-धीरे रामकुमार फेसबुक से भी ऊबने लगा। उस ने महसूस किया कि फेसबुक खा-पी कर अघाए और लगभग चुके हुए, नाकारा किस्म के लोगों का वाग्विलासी-अड्डा बनाता जा रहा है। एक तरह का शगल। नशा। करना-धरना कुछ नहीं, बस, घर बैठे क्रांतिकारी विचारों का वमन करते रहो। फेसबुक में रामकुमार को ऐसे-ऐसे लोग नज़र आते, जिन्हें देख कर उसे बड़ी कोफ्त होती। भोग-विलास में डूबे लोग नैतिकता पर विचार करते हुए किसी मसखरे से कम नहीं लगते थे। धीरे-धीरे रामकुमार का मोहभंग होता चला गया कि वह किन लोगों के साथ खड़ा है।

फेसबुक से रामकुमार की वितृष्णा उस वक्त से शुरू हुई, जब एक एक लड़की ने रामकुमार को 'फ्रैंडरिक्वेस्ट' भेजी। जब रामकुमार ने उसका प्रोफाइल देखा, तो दंग रह गया। अपनी फोटो-गैलरी में वह लड़की अपना जिस्म दिखा रही थी, उसके अनेक पोज़ बेहद अश्लील थे। लड़की ने किसी न्यूड लड़की का चित्र भी अपलोड कर के रखा था। ऐसी एक नहीं, अनेक लड़कियों की भरमार थी फेसबुक में। अनेक युवक भी लंपटगरी कर रहे थे। कोई युवक चट्टी में नज़र आ रहा है।.... कोई अपने कुत्ते की तस्वीर अपलोड कर रहा है, तो कोई अपने किसी दोस्त के साथ पलंग पर चिपक कर लेटा हुआ है।.... कोई बता रहा है कि 'आज मैं सुबह देर से उठा....आज मैं सिनेमा देखने गया....आज मैंने ये किया, वो किया....'। कुछ तो इतने विचारशून्य 'फेसबुकिए' थे, जो 'हाय दोस्तो, और क्या हाल है?' लिखते और चलते बनते। ऐसे ही जुमलों को भी 'पसंद' करने वाले दस-बीस लोग सामने आ जाते थे। रामकुमार ने सोचा ऐसे चिरकुटों के बीच रहने से अच्छा कि पढ़-लिखने में समय बिताया ही श्रेयस्कर होगा।

फेसबुक में दो-चार बौद्धिक लोग मरुभूमि में जलकुंड की तरह लगते थे। जिनके विचार पढ़ कर रामकुमार को खुशी होती थी। कुछ लोग वैचारिक भले ही न भले थे, मगर ये लोग भले किस्म के थे। कुछ लोग कभी कोई

कर्णप्रिय फिल्मी गीत सुनवा देते थे, या कोई फनी वीडियो दिखा कर लोगों का मनोरंजन करने की कोशिश करते थे। मगर नाकारे लोगों की विवेकहीनताओं की बहुलता से रामकुमार और अधिक व्यथित हो जाता था। वह कंझा कर बड़बड़ाता, 'अरे भाई, तुम अपने घर में हगो-मूतो, हमसे क्या, लेकिन इस नये माध्यम से सद्बिचारों का आदान-प्रदान करो'। उसने एक-दो बार अपनी वॉल पर इस तरह की समझाइश देने की कोशिश की, तो कुछ लोगों ने उसे ही फटकार लगा दी कि 'हमें अपनी स्वतंत्रता में दखल मंजूर नहीं।....आप हमारी सोच पर पाबंदी न लगाएँ। आप व्यथित हैं, तो हमें भी व्यथित न करें'।

लोगों की तल्ख प्रतिक्रियाएँ पा कर रामकुमार ठीला पड़ गया। उसे दुःख हुआ कि लोग वैचारिक माध्यमों का भी गलत इस्तेमाल कर रहे हैं। हाँ, जब अन्ना हजारे का भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन चल रहा था, तब बहुत-से लोगों ने फेस बुक के माध्यम से एक स्वर में आवाज़ बुलंद की थी कि देश से भ्रष्टाचार मिटना चाहिए। मगर रामकुमार इस सत्य को समझ नहीं पाया कि ये आभासी दुनिया है। यहाँ लोग एक पंक्ति लिख कर छुट्टी पा लेते हैं और सोचते हैं कि क्रांति हो गई। घर बैठे प्रलाप करते रहो। जबकि अनुभव यही बताता है कि क्रांतियाँ घर बैठे नहीं होतीं। इसके लिए घर से बाहर निकलना पड़ता है। जान जोखिम में डालनी पड़ती है।

रामकुमार को जब यह समझ में आ गया कि ये फेसबुक, ये ट्विटर आदि जितनी भी सोशल नेटवर्किंग वाली साइटें हैं, इनमें अधिकतर खाये-पीये संपन्न लोगों की घुसपैठ बढ़ती जा रही है, और शांतिर लोग इस माध्यम से अपनी बेहतर छवि पेश करने का गोरखधंधा चला रहे हैं, तो उसे लगा अब फेसबुक से दूरी बढ़? ही बेहतर होगा। यह तो खाली-पीली समय बर्बादी का एक माध्यम बन कर रह गया है। और अंततः रामकुमार ने फेसबुक, ट्विटर और 'वाट्सएप' आदि पर भी जाना बंद कर दिया। वैसे कभी-कभी मन होता, तो वह चला भी जाता था। तब उसकी वॉल पर एक-दो लोगों के कमेंट्स ज़रूर नज़र आते थे कि

... 'आजकल आपके दीदार नहीं होते? इन दिनों कहाँ व्यस्त हैं?'...

... 'आपके क्रांतिकारी विचारों के बगैर फेसबुक की

दुनिया अधूरी है"।....

... 'हम भी आपकी तरह व्यथित हो रहे हैं'।

रामकुमार सब के विचार पढ़ता, 'पसंद' पर क्लिक तो करता, मगर कोई उत्तर न देता।

एक दिन रामकुमार के पिता बीमार पड़े। रामकुमार के पास इतने पैसे नहीं थे कि किसी निजी अस्पताल में उनका इलाज करा सकता। मजबूरी में सरकारी अस्पताल के बदबूभरे वातावरण में ही पिता को भर्ती करना पड़ा। हमेशा की तरह अस्पताल में दवाइयों का अभाव था, सो उसे बाहर से ही दवाइयाँ खरीदनी पड़ी। इसी में काफी पैसे खर्च हो गए। पिता कुछ ठीक हुए, तो माँ भर्ती हो गई। फिर खर्च। दोस्तों से कर्ज लेने की नौबत आ गई। बच्चों की महंगी पढ़ाई के कारण रामकुमार पहले ही व्यथित था। महँगाई अपना रंग दिखा रही थी। आसमान छू रही थी। रामकुमार चाह कर भी घर को खुश नहीं रख पा रहा था। एक लिपिक की अपनी क्षमता होती है। फिर रामकुमार जैसा लिपिक जो कहीं से बेईमानी भी तो नहीं कर सकता। भ्रष्टाचारी लोग तो रेत से भी तेल निकाल लेते हैं। लेकिन रामकुमार ने हमेशा भ्रष्ट तरीकों से अपने को दूर ही रखा।

पत्नी और बच्चे अक्सर रामकुमार के पीछे पड़े रहते कि 'केबल कनेक्शन ले लो'। एक दिन उसने केबल कनेक्शन ले लिया।

फिर बच्चों ने कहा, 'फ्लैट टीवी ले लो'। रो-धो कर वह भी ले लिया।

फिर घर के हर सदस्य को एक मोबाइल चाहिए। सबके स्टेस का सवाल। चलो, वह भी दिलवा दिया।

....अब सिम कार्ड के लिए भी पैसे दो। ..

...शॉपिंग मॉल जाना है, वहाँ सिनेमा भी देखना है, वहाँ कुछ न कुछ खाना-पीना भी करेंगे। तो उसके लिए पैसे लगेगे।

...टू व्हीलर चाहिए, वो भी महँगे से महँगा: लेटेस्ट फीचर वाला।

रामकुमार कर्ज ले-ले कर घर-भर की सारी सुविधाएँ जुटाता रहा।

माता-पिता लगातार बीमार रहने लगे। उनकी दवाइयों पर सबसे ज्यादा पैसे खर्च हो रहे थे, मगर घर के अन्य लोगों के गैरजरूरी खर्च रामकुमार को तोड़े जा रहे थे।

बीस हजार रुपये वेतन में वह कितना कुछ कर पाता? धीरे-धीरे हालत यह हो गई कि वह कर्ज की नदी में गले तक डूब गया। उसे बचाने वाला कोई नहीं था। उसकी स्थिति को समझने की कोशिश भी कोई नहीं कर रहा था। न पत्नी और न बच्चे। बच्चों की नई-नई फरमाइशें जारी रहती। किसी को मोबाइल का नया सेट खरीदना है, तो किसी को ब्रांडेड कपड़े चाहिए। अगर किसी दिन रामकुमार नाराज हो कर भड़क जाए, तो पूरा घर उससे बात नहीं करता था। ऐसे समय में रामकुमार कभी-कभी इंटरनेट पर बैठा और मन की व्यथा को लिख कर तमानवमुक्त होने की कोशिश करता।

रामकुमार व्यथित एक दिन कहीं जा रहा था। उसने देखा एक गाय घायल अवस्था में सड़क पर पड़ी है। किसी गाड़ी वाले ने गाय का ठोकर मार दी थी। स्कूटर से उतर कर उसने घायल गाय को गौ शाला तक पहुँचाया। गायों की दुर्दशा देख कर वह दुःखी हो जाता था और बड़बड़ता, 'कैसा निर्मम समाज है यह। लोग गाय का दूध पीते हैं मगर उसकी देखभाल नहीं कर सकते? शर्म आती है ऐसे लोगों को देख कर'। गाय को वह माता कहता था।

एक बार एक यातायात सिपाही से वह भिड़ गया, क्योंकि सिपाही गाँव से आए किसी व्यक्ति को पीट रहा था। ऐसे अनेक मौके आते रहते थे, जब रामकुमार लोगों से उलझ जाया करता था। उसे अन्याय बर्दाश्त नहीं होता था। इस कारण वह अक्सर दुःखी-परेशान रहता। कई बार उसका मन होता कि नौकरी छोड़ दे और अन्ना हजारे के साथ जुड़ कर समाजसेवा के काम में लग जाए, मगर वह ऐसा कर नहीं सकता था, क्योंकि उस घर के पाँच सदस्यों को पेट भी पालना था। कई बार वह सोचता कि उसने शादी क्यों कर ली? अविवाहित रहता तो परिवार की चिंता न रहती। फिर वह निश्चिंत हो कर जनसेवा कर सकता था। देश की अराजक स्थिति देख-देख कर वह तनावग्रस्त हो जाता। कई बार तो उसे लगता कि दिमाग की नसें फट जाएँगी। पत्नी समझाती, यार-दोस्त भी समझाते कि 'ठंड रख। टेंशन मत पाला कर। तेरे सोचने से दुनिया नहीं बदलेगी। अब यह सुधारने से भी रही। भ्रष्टाचार मिटाने के लिए 'लोकपाल' बिल ले आओ, चाहे परलोकपाल बिल, सिस्टम का जिस तेजी के साथ अपराधीकरण हुआ है, उसे सुधारने के लिए अब केवल महाप्रलय की प्रतीक्षा करनी होगी। यह दुनिया नष्ट होगी, नई दुनिया आकार

लेगी, तभी शायद ईमानदार, सहिष्णु और महान दुनिया का विकास हो सकेगा।

वह रविवार की कुछ-कुछ उदास-सी दोपहर थी।

पंद्रह अगस्त का दिन था। छुट्टी का माहौल, मगर रामकुमार बैठे-बैठे विचार कर रह था कि भ्रष्टाचार, महंगाई और अत्याचार पीड़ित समाज के रहते आजादी का जश्न बेमानी है।

रामकुमार गाँधी की चर्चित पुस्तक 'हिंद स्वराज' पढ़ रहा था। पत्नी अपने दोनों बच्चों के साथ शॉपिंग मॉल के लिए निकल गई। वृद्ध माता-पिता अपने कमरे में आराम कर रहे थे। लेकिन रामकुमार के मन में कुछ और चल रहा था। दरअसल वह इस संसार से हमेशा-हमेशा के लिए कूच करने की तैयारी में था। महाप्रयाण की तैयारी। बहुत देर तक वह अपने बारे में, महंगाई के बारे में, देश के हालात पर विचार करता रहा, फिर दुःखी हो कर आँसू बहाने लगा। उसे भी यह महसूस होने लगा कि यह दुनिया जिस ढर्रे पर चल रही है, उसे अब कोई गाँधी, या कोई अन्ना बदल ही नहीं सकता। रामकुमार इस नकारात्मक समाजिक बदलाव को बर्दाश्त भी तो नहीं कर सकता था। इस तरह घुट-घुट कर जीने का कोई मतलब नहीं। बेहतर यही है कि इस दुनिया-ए-फानी से ही कूच कर जाओ।

अचानक वह उठा.... उसने एक कोरा कागज उठाया और उस पर लिखने लगा :

"इस दुनिया को देख कर मैं बेहद परेशान हूँ, सचमुच व्यथित हूँ। ...लोग महंगाई से परेशान हैं, मेरे जैसे न जाने कितने लोग हैं, जो कर्ज में डूबे हुए हैं....लाखों-करोड़ों लोग भूखों मर रहे हैं....किसी के पास रहने को घर नहीं, तो किसी के पास इतने घर हैं कि समझ नहीं पाता कि कहाँ रहे?...सामाजिक पतन देख कर शर्म आती है....लड़कियाँ शराब पी रही हैं सिगरेट पी रही हैं...कुँवारी माँ की संख्या बढ़ रही है। माता-पिता आधुनिक बनने के चक्कर में बच्चों को नैतिक रूप से पतित कर रहे हैं...बूढ़ी औरतें जवान होना चाहती हैं....परिवारों का अपनापन खत्म होता जा रहा है...आपसी सद्भावना तिरोहित हो रही है....देश के लोग ही देश के टुकड़े करने के नारे लगा रहे हैं.... कुल मिला कर देश की जो हालत है, उसे देख कर अब जीने का मन नहीं

करता। इसलिए....अब मैं जा रहा हूँ...अपने परिवार को भगवान भरोसे छोड़ कर जा रहा हूँ....क्योंकि मुझे पता है कि किसी के जाने से किसी को कोई फर्क नहीं पड़ता...सबके जीने की कोई न कोई राह निकल आती है, इसलिए मेरे मन में कोई अपराध बोध भी नहीं कि मैं अपने परिवार को असहाय छोड़ कर जा रहा हूँ।....और वैसे भी सब अपनी-अपनी किस्मत ले कर आते हैं।....

...अपनी मौत के लिए मैं किसी पर कोई इल्जाम नहीं लगाना चाहता, लेकिन सरकार पर ज़रूर उँगली उठाना चाहता हूँ।.... अगर सरकार चाहती, तो भ्रष्टाचार खत्म हो सकता था, महंगाई पर नियंत्रण लगाया जा सकता था। लेकिन सरकार में बैठे लोग अब नेता नहीं, माफिया हैं।... किसी भी खतरनाक अपराधी से कम नहीं हैं ये लोग। इनके रहते अब न तो महंगाई पर नियंत्रण हो सकता है, न भ्रष्टाचार ही खत्म हो सकता है।...मैं चाहता तो इन अराधियों को चुन-चुन कर मार सकता था, लेकिन मैं ऐसा नहीं करूँगा, क्योंकि मैं महात्मा गाँधी का भक्त हूँ।.... इसलिए दूसरे की हत्या करने से बेहतर है कि आत्महत्या कर ली जाए।.... जिंदा रहूँगा, तो घर-बाहर चारों तरफ अराजकता देख कर मुझ दुःख होगा। शातिरों की हत्या करने का मन करेगा, और मैं ऐसा कर नहीं पाऊँगा।... इसलिए घुट-घुट कर मरने से बेहतर है कि इस किस्से को ही खत्म कर दिया जाए।....

....खुश रहो अहले वतन हम तो सफर करते हैं। जय हिंद।"

रामकुमार ने फेसबुक की अपनी 'वॉल' पर भी अपने इन विचारों को लिख दिया। जैसे ही रामकुमार के विचार उसकी वॉल पर नज़र आए, वैसे ही बहुत से नाकारा किस्म के विचारशून्य फेसबुकियों ने रामकुमार के पूरे विचारों को पूरा पढ़े बगैर हमेशा की तरह 'पसंद' पर क्लिक किया, और कुछ लोगों ने 'वाह क्या बात है'.... 'नाइस'....और 'अतिसुंदर विचार' जैसी टिप्पणियाँ भी कर दीं। किसी ने भी पूरा मजमून नहीं पढ़ा कि रामकुमार कहना क्या चाहता है। वह आत्महत्या की सार्वजनिक घोषणा कर रहा है, इस पर किसी का ध्यान ही नहीं गया क्योंकि अधिकतर लोग किसी के विचारों को पूरा पढ़ने की जहमत ही नहीं उठाते। बस, सरसरी तौर पर पढ़ा, और टिप्पणी कर दी। एक-दो ने पूरा पढ़ा, मगर उन्होंने

इसे गंभीरता से नहीं लिया: सब ने सोचा, रामकुमार व्यथित जी मजाक कर रहे हैं।

लेकिन रामकुमार व्यथित गंभीर था।

....अपने मन की भावनाओं को कलमबद्ध करके वह फाँसी पर झूल गया।

शाम को जब पत्नी-बच्चे मस्ती करके घर लौटे, तो रामकुमार के शरीर को पंखे के सहारे झूलता देख कर उनके होश उड़ गए। कोहराम मच गया।...रोना-पीटना शुरू हो गया....घर के बाहर भीड़ लग गई। मीडिया के लोग पहुँचने लगे। इलेक्ट्रॉनिक चैनल वाले घर के सदस्यों से धड़ाधड़ 'बाइट' लेने लगे। चैनल वाले आज भी रामकुमार से कोई बाइट नहीं ले सके। लेकिन रामकुमार का सुसाइड नोट सबके सामने था। जो भी उसे पढ़ता, हैरत में पड़ जाता। उसे पढ़ कर अनेक लोगों की आँखें नम हो जाती थीं।

पहली बार लोग इस तरह का सुसाइड नोट देख रहे थे। लोग आपस में बातें करने लगे :

...“भई, ये तो पागलपन की निशानी है।”

...“इतनी बड़ी दुनिया में ये सब तो चलता रहता है। इस कारण कोई अपनी जान तो नहीं देता।”

....“इसके मरने से क्या परिदृश्य बदल जाएगा?”

...“आदमी को इतना भावुक भी नहीं होना चाहिए।”

...“कहीं अंदर कोई दूसरी स्टोरी तो नहीं?...कहीं रामकुमार का किसी से कोई लफड़ा-वफड़ा तो नहीं था। लव अफेयर?”

तरह-तरह की बातें होती रहीं। टीवी चैनलों के लिए रामकुमार व्यथित की मौत जबर्दस्त ब्रेकिंग न्यूज़ थी। रामकुमार की पत्नी, बच्चों के आँसू, बूढ़े माता-पिता का रुदन, सब कुछ दिन-रात दिखाया जाता रहा। हर चैनल की टीआरपी बढ़ गई थी। दूसरे दिन अखबारों ने भी प्रथम पृष्ठ पर खबर प्रकाशित की। रामकुमार का महान व्यक्तित्व के बारे में पत्नी ने विस्तार से जानकारी दी थी।

अचानक एक गुमनाम व्यक्ति एक दिन का हीरो बन गया था।

दूसरे दिन सुबह रामकुमार की अंतिम यात्रा निकली। आदर्श एंक्लेव के कुछ लोग, और दफ्तर के दो-चार लोग शामिल हुए। रामकुमार के दफ्तर में उसे श्रद्धांजलि अर्पित की गई। उधर आदर्श एंक्लेव के अध्यक्ष अक्षयकुमार ने भी

बाकी लोगों से चर्चा की:

“इस भावुक आदमी को हमें अच्छे-से श्रद्धांजलि देनी चाहिए।”

“हाँ, यह ठीक रहेगा”, हनुमानप्रसाद ने कहा, “संडे को मीटिंग रख लो।”

“आप भी गब कर रहे हैं? आदमी आज मरा है, और संडे का श्रद्धांजलि दी जाए, ये क्या बात हुई? हमें कल ही श्रद्धांजलि देनी चाहिए।”

“ठीक है, कल ही। मगर.. कितने बजे?”

“सुबह दस-ग्यारह बजे?”

“दस बजे रख लो न यार, वरना दफ्तर को देर हो जाएगी, बाकी लोग भी धंधे-पानी वाले हैं।”

दूसरे दिन सुबह ठीक दस बजे जमा होने का कार्यक्रम बना कर सब लोग अपने-अपने घर रवाना हो गए।

रामकुमार व्यथित के माता-पिता की आँखें जैसे पथरा गई थीं। रो-रो कर उनका बुरा हाल था।

चंद्रकला बीच-बीच में सुबक लेती थी। रामकुमार के दफ्तर वाले आ कर समझा गए थे कि ‘आपको अनुकंपा नियुक्ति मिल सकती है’। यह सुन कर चंद्रकला ने राहत की साँस ली। उसका दुःख कुछ कम हुआ था। रात को वर्मा के यहाँ से भोजन आ गया। बच्चों ने बेमन से खाया। फिर अपना-अपना होमवर्क करने लगे। उनका किशोर-मन कर रहा था कि टीवी चैनल देखे, पर माँ ने डाँटते हुए कहा कि ‘दो-चार दिन तो बिल्कुल नहीं, उसके बाद देख लेना।’



मेरे भगवान

रणविजय

मास्टर साहब अब एक संपन्न व्यक्ति हैं। अपने कस्बे में उनका रसूख है। लगभग १० किलोमीटर के दायरे में उनके क्षेत्र से सम्बन्धित व्यापार में उनसे ऊपर कोई नहीं था। गाँव-समाज का प्रत्येक व्यक्ति हमेशा उनकी तरफ सम्मान और आशा से देखता था। उनकी काया में ऐसी कोई विशालता अथवा सौष्ठव नहीं था, परंतु वेश-भूषा, साफ-सफाई तथा सम्पन्नता से, विशिष्टता झलकती थी।

आज फिर दो-एक जानने वाले उनके साथ बैठकर अपने सम्मान में वृद्धि कर रहे थे। उनका घर ठीक सड़क पर पड़ता था, जहाँ से आधा किलोमीटर भी बाजार नहीं होगा। उनकी आदत थी कि शाम को वे अपने घर के सामने बरामदे में बैठते थे, जहाँ से गुजरने वाले उन्हें और वे गुजरने वालों को जोशपूर्वक नमस्कार करते थे। उनमें से कुछ लोगों को साथ बैठने के लिए बुला भी लेते थे। वे स्वभाव से विनम्र थे, इसलिए बैठकी वालों को भी सामाजिक महत्त्व के विषय जैसे राजनीति, थाना, कचहरी, वारदात, आलू, गन्ना, टमाटर रेट इत्यादि पर चर्चा-परिचर्चा करने में संकोच नहीं होता था। अपने जमाने के वे काफी पढ़े-लिखे व्यक्ति थे। इसके अतिरिक्त सामाजिक परिस्थितियों ने कम उम्र में ही उन्हें काफी व्यावहारिक बना दिया था। वे बुद्धि से भी तेज थे।

गाँव-जवार, पास-पड़ोस पर चिड़िया की तरह व्यापक दृष्टि रखने वाले मास्टर साहब ने उस परिवेश की नब्ज पकड़ ली थी। समय से पूर्व ही उन्होंने यह समझ लिया था कि गाँववालों के बीच रहने में नुकसान है, क्योंकि गाँव में प्रत्येक पट्टीदार और पड़ोसी आपसे ईर्ष्या करता है। उसका पूरा रुपया, वक्त और जाँगर केवल इस कार्य में खर्च होता है कि आप कैसे दुःखी एवं परेशान रहें। उन्होंने समय से पूर्व यह भी समझ लिया था कि भविष्य में पढ़ाई का महत्त्व बहुत बढ़ने वाला है। जिनके बच्चे अच्छे शिक्षित होकर आगे बढ़ेंगे, वे गाँव के जमींदारों को पानी पिला देंगे। व्यापार का फैलाव किस दिशा में हो, ये वे पहले ही सूँघ लेते थे, इसलिए आज सफल बिजनसमैन थे।

दूर से ही किसी साइकिल सवार ने उनको नमस्कार किया, उन्होंने भी उसका जवाब काफी सद्भाव तथा प्रेमभाव

से दिया। ये सिलसिला वैसे तो रोज की सामान्य बात थी। क्योंकि सड़क पर गुजरने वाले अधिकांश व्यक्ति उन्हें जानते-मानते थे। पास आकर वह साइकिल सवार, साइकिल से उतरकर खड़ा हो गया। साइकिल को टेढ़ा कर अपने बदन से टिकाये हुए, विनीत मुद्रा में दूर से ही पूछा- 'भैया, क्या हाल-चाल है?'

साइकिल सवार की उमर लगभग २६-२७ साल थी, जबकि मास्टर साहब ५२-५३ साल के हैं। फिर भी गाँवों में इस तरह तथा उससे ज्यादा उम्र के फासलों के लोग भी सम्बन्धों में एक-दूसरे के भाई लगते हैं। उसके बदन के मैले, उघड़े कपड़ों तथा सिली चप्पलों की हालत समझते हुए, मास्टर साहब ने भी करुणा से पूछा, 'और कैसा चल रहा है सब, घर में? बहुत दिन बाद दिखाई पड़े, वंसू?'

कभी-कभी मोहब्बत का एक गर्म स्पर्श ही अन्दर तक पिघला देता है। वंशीलाल उस करुणा में भीग गये। वे क्षीण और भर्राई आवाज में बोले- 'सब ठीक चल रहा है, भैया... बाकी तो आप गाँव का हाल जानते ही हैं। आपसे तो कुछ छिपा नहीं है।'

मास्टर साहब ने माहौल समझकर थोड़ी सहृदयता और जताते हुए पूछा- 'आजकल क्या कर रहे हो? मोटकऊ के क्या हाल हैं?'

वंशीलाल ने अब साइकिल स्टैंड पर खड़ी कर दी और आहिस्ता-आहिस्ता अपने को घसीटते हुए आकर कुर्सी पर बैठ गये।

'बाबू की तबीयत अब ठीक नहीं रहती है। हिस्सा, बखरा के समय पर वे गिरधारी भैया के साथ चले गये। अब वहीं छप्पर के नीचे खटिया डाले पड़े रहते हैं। दिन-भर खाँसते हैं, परंतु आने-जाने वालों को बुला लेते हैं। फिर बीड़ी माँगकर पीते हैं। लोगों का तो एक बीड़ी में कुछ नहीं जाता, पर ऐसी अनेकों बीड़ियाँ दिन-भर में ये पी लेते हैं। कभी-कभी गिरधारी भैया दवाई के लिए जाते हैं... हमारे जोर से तो कुछ चलता नहीं है, खेती-बाड़ी में कुछ ज्यादा होता नहीं है। वैसे भी चार-पाँच बीघे खेत में सब कुछ हो भी नहीं सकता। गेहूँ बो दो, तो सब्जी कहाँ मिले। धान लगा दो तो सिंचाई का साधन

नहीं, खाने भर को भी पूरा गल्ला तो हो नहीं पाता। बाजार से दाल खरीदने के लिए बनिए को चावल देना पड़ता है। कपड़ा, दवा, दारू कहीं से आए। इधर एक भैंस थी, जिसका दूध बेचकर कुछ काम चल जाता था, पर दो दिन से वह भी बीमार है। दवाई तक को पैसा नहीं है, डॉक्टर के पास क्या मुँह लेकर जाऊँ? न हैसियत है, न पहचान है...।' ऐसा कहते-कहते वंशीलाल रूँआसे हो गये। असहाय की भावना ने उन्हें दयनीय बना दिया। उनका चेहरा छोटा हो गया।

मास्टर साहब भी इससे अछूते नहीं रहे, उन्होंने १०० रुपये का एक नोट निकालकर सांत्वना देते हुए कहा-

'अरे वंसू, इतना दुःखी मत होओ। हमारे जिन्दा रहते तुम्हें इस तरह का दिन देखना पड़े, ऐसा कभी नहीं होगा। ये पैसा रक्खो और जाकर भैंस की दवाई कराओ, कम पड़े तो और दे दूँगा। आकर मुझे बताना, शरमाने की बात नहीं है।' कहते हुए उन्होंने लगभग उसके हाथों में नोट को दूँस दिया।

वंशीलाल कुछ अनिर्णय की मुद्रा में थे कि रुपया लें अथवा नहीं। ऐसी परिस्थिति उनके लिए नयी थी, क्योंकि जब तक बँटवारा नहीं हुआ था तब तक सभी जिम्मेदारियों को देखने के लिए और बड़े लोग थे। इस स्थिति से उनका नाता पहले कभी नहीं पड़ा।

वंशीलाल के जाने के बाद एक व्यक्ति ने जिक्र किया-

'ये आपके गाँव का है क्या? क्या करता है?' इस पर मास्टर साहब ने थोड़ी याद करने वाली मुद्रा बना ली। सिर को जरा ऊपर करते हुए कहीं दूर लक्ष्य कर देखने लगे। वे कई वर्ष पूर्व अतीत की गलियों में उतर गये।

मास्टरजी का घर गाँव के किनारे भी नहीं था और न ही बीचोबीच था। वस्तुतः खपरैल का बना हुआ एक गँवई मकान था। बाहर की तरफ निकलने वाले रास्ते पर लगभग १० मकान थे। सामनेवाले पड़ोसी ने जान-बूझकर घर का सारा गंदा पानी का नाला, इनके रास्ते पर खोल रखा था।

जो निकटतम पड़ोसी थे, वे रिश्ते में चचेरे भाई भी थे। पुरानी जायदादें बँटकर दो घर बने थे, इसलिए घर आपस में जुड़े हुए थे। निकटतम ईर्ष्यालु प्रतिद्वंद्वी भी वही थे। मास्टर साहब की दो बहनें थीं तथा तीन भाई थे। सबसे बड़े होने के नाते बड़ाई हमेशा ओढ़नी पड़ी। घर में मिठाई बँटे तो सबसे बाद में मिले, कपड़ा बँटे तो बाद में मिले, सोने को सबसे बाद में तथा उठना सबसे पहले पड़ता था। इस तरह की तमाम रस्मों एवं जिम्मेदारियों ने उन्हें स्वभाव से ही परिश्रमी बना दिया। रही-सही, कसर उनके पिताजी ने पूरी कर दी। उनके पिता को मंडलियाँ एवं संगतें लगाने का शौक हो गया। धीरे-धीरे बैरागी भावना भी उनमें जमने लगी। इसके बाद तो घर

की तमाम जिम्मेदारियाँ उनके पिता को ईश्वर की क्रीड़ा लगने लगी एवं उन्होंने स्वयं को उस क्रीड़ा का एक पात्र समझ लिया। धीरे-धीरे जमीन-जायदाद भी नश्वर लगने लगी। तब उन्होंने उसे बंधक बना कुछ कर्जा ले लिया। इसी कर्जे से ईश्वर की अर्चनाएँ हुईं। उनका नाम बढ़ा तथा पुण्य के खाते में बहुत वृद्धि हुई।

परंतु घरवालों को इस कारनामे के परिणाम का पता बाद में चला, जब कर्जा देने वाले ने जमीनों से बेदखल करने की कोशिश की।

घरवालों की स्थिति मालिक से मजदूर बनने की आ गयी। लम्बी दालान में बैठकर, ढिबरी की रोशनी में, खटिया पर लेटे हुए कई रातें मास्टर साहब की यूँ ही बीत गयी कि आखिर इस समस्या से निपटा कैसे जाये। इस मुसीबत से निकलते हुए वे उद्यमी हो गये। इस तरह उद्यम एवं परिश्रम का जब मेल हुआ तो सफलता रोशनी की तरह फैली और फिर तो एक भी कोना अँधेरा नहीं रह पाया। जिधर प्रयास किया, उधर ही सफल रहे।

रामसजीवन की स्थिति रामकिशुन यानी मास्टर साहब के पिताजी से भिन्न नहीं थी। लगभग वैसी ही जमीन की मिल्कियत थी। उन जैसा ही घर था। जाति-बिरादरी भी एक थी। एक फर्क था कि रामसजीवन के केवल चार बेटे थे, उनकी बेटियाँ नहीं थीं, इसलिए शादी-विवाह में केवल उन्हें मिलना ही था, उन्हें किसी को कुछ देना नहीं था। इससे उनका बोझा खासा हल्का था और जीवन में बेखटक मस्ती थी। खाने-पीने की कोई परेशानी खास नहीं थी। इन परिस्थितियों में उनके किसी बेटे ने भी स्कूल में समय खराब नहीं किया और न ही रामसजीवन को कभी यह महसूस हुआ कि उनके बच्चों के पास समय का और कोई बेहतर इस्तेमाल भी है। सभी बच्चों की पढ़ाई-लिखाई कक्षा २-३ से ज्यादा नहीं हुई क्योंकि जब अगले ने नहीं पढ़ाई की तो पिछले को भी बराबर प्रेरणा मिली। इसलिए व्यावहारिक ज्ञान से आगे वे कभी कुछ जान न सके और संकुचित सोच के कारण दूर तक देख न सके।

जैसा रिवाज है कि जब बड़े बेटे की शादी होती है उसी दिन से ही गृह कलह तथा बँटवारे का बीज पड़ जाता है, जिसको सभी लोग मिलकर धीरे-धीरे सींचते हैं। दूसरी बहू के आने के बाद तो घर का पहिया जाम ही हो जाता है। इस रिवाज का यहाँ पूरा पालन हुआ। ६ हिस्सों में पूरी जायदाद का बँटवारा हो गया। रामसजीवन, बड़े बेटे गिरधारीलाल के साथ गये, क्योंकि बड़ी बहू उनकी सेवा करती थी। उनकी पत्नी तीसरे बेटे मुरारीलाल के साथ चली गयी, क्योंकि

उसके घर में कोई लक्ष्मी नहीं थी। सबसे छोटे वंशीलाल, दूसरे नम्बर के भाई किशन लाल के साथ गये, क्योंकि दूसरे नम्बर की बहू अपने सबसे छोटे देवर पर जान छिड़कती थी। कालांतर में यह प्यार का रिश्ता भी नहीं निभा और वंशीलाल भी किशन लाल से काफी झगड़ा, फजीहत करके अलग हो गये। जिसमें वंशीलाल तथा उनकी पत्नी का आरोप आज तक कायम है कि किशनलाल की पत्नी ने उनके जेवर, गहने गायब कर दिये हैं। इस तरह से एक घर के कई हिस्से हो गये। किसी के पास आँगन आया तो किसी के पास दालान। किसी के पास जानवरों की आबादी आयी। छप्पर तथा मिट्टी का सहारा लेकर खेतों में वंशीलाल ने घर बना लिया। वे गाँव के लोगों से अलग हो गये।

१२ बीघे की खेती बँटकर वंशीलाल के पास केवल २ बीघे आयी। इधर पिछले साल से उन्होंने रामसरण का भी खेत जोतना-बोना शुरू कर दिया। क्योंकि रामसरण कानपुर में कहीं मिल में काम करता था और मजे में रहता था। उसको खेतों में मरने की क्या जरूरत थी। इस तरह बटाईदारी पर उसे ३ बीघे खेत और मिल गया था। तब जाकर किसी तरीके से घर का काम चलता था।

मास्टर साहब के सामने ये सब घटनाएँ घटी हैं, इसलिए उनको रत्ती-रत्ती का हाल मालूम है। इस पूरे परिवार में उनको वंशीलाल से सदैव हमदर्दी रही है, क्योंकि उसके स्वभाव में भी परिश्रम आ गया था। कम उमर में ही जब घर चलाने की जिम्मेदारी आ जाये तो बिगड़ने के सिवाय दूसरा रास्ता बनने का ही है। वंशी ने अभी दो साल पहले खेतों में टपरा डाल लिया। उपाय करके एक भैंस का बच्चा ले आया और टपरे में पाल लिया। उसकी सेवा-टहल कर उसको बड़ा किया। बाद में उसका दूध हलवाइयों को बेचने लगा था। नकद रुपया मिल जाने से बच्चों की दवाई-पाती, लिखाई-पढ़ाई का कुछ खर्च निकल आता था।

यही सब बयान करते-करते देर हो गयी। अब अँधेरा भी हो गया था। दोनों व्यक्ति भी बत रस का खूब आनंद ले चुके थे, इसलिए विदा होने को तैयार थे। उनको विदा कर मास्टर साहब भी घर में आ गये तथा कपड़ा उतारकर लुंगी पहनकर हाथ-पैर धोने चले गये।

ठीक दो दिन बाद वंशीलाल फिर प्रकट हुए। एक मध्यम नमस्कार करके अपनी साइकिल ठीक से खड़ी करने में व्यस्त हो गये। उनकी वेश-भूषा तो अपने पूर्व रूप में ही थी परंतु मुख पर जरूर प्रसन्नता की चमक थी।

आकर कुर्सी खींचकर बैठ गये। प्रार्थना तथा आदरमिश्रित वाणी में बोले-

‘भइया, आपका बड़ा उपकार है। आपका सहारा न होता तो मेरी भैंस तो मर ही जाती और फिर तो घर का खर्चा चलना बंद हो जाता। आपका यह अहसान मैं जिंदगीभर नहीं भूलूँगा।’ ऐसा कहते-कहते उनके स्वर भीगने लगे।

मास्टर साहब ने उन्हें सँभालते हुए कहा-

‘वंसू, तुम तो मेरे भाई हो। आखिर भाई ही भाई के लिए नहीं करेगा तो किसके लिए करेगा।’

इसके बाद काफी देर तक वार्तालाप नहीं हुआ। माहौल में शांति रही, परंतु कुछ गम्भीर बात होने का आभास बना हुआ था। ऐसा लग रहा था कि कब और कहाँ से शुरू हो, इसका इंतजार हो रहा था।

थोड़ी देर बाद गम्भीर स्वर में मास्टर साहब बोले- ‘वंशीलाल, मुझे पूरा विश्वास है कि तुम और आगे बढ़ सकते हो, यदि तुम वैसा करो, जैसा मैं कहता हूँ।’

ऐसा कहते हुए उन्होंने उसकी प्रतिक्रिया जानने के लिए वाक्य को अप्रत्याशित रूप से तोड़ दिया तथा दूर कहीं देखने लगे। वंशीलाल ने तुरंत पकड़ा- ‘भइया, जैसा आप कहेंगे, मैं वैसा ही करूँगा, परंतु मुझे उबार लीजिये।’

उसके स्वर में सच्चाई की खनक तथा आत्मविश्वास था। मँजे हुए जौहरी की तरह, मास्टर साहब ने भी ठीक से पहचानते हुए कहा-

‘देखो, वंशीलाल तुम बहुत मेहनती हो, लेकिन तुम्हारी मेहनत में दिशा नहीं है, इसलिए तुम तरक्की की तरफ बढ़ नहीं पा रहे हो। दिशा इसलिए नहीं है क्योंकि तुम्हारी सोच-समझ का विकास नहीं हुआ, या यँ कहें कि क्या करना तथा कैसे करना चाहिए इसकी समझ तुम्हारे पास नहीं है। वह मैं तुम्हें दे दूँगा। एक और बड़ी शर्त है। एक भारी वजन रखने के पहले मास्टर साहब उसकी क्षमता का आकलन करने वाली नजर से उसे देखने लगे। जरा आश्चर्य होते ही उन्होंने फिर एड़ लगायी- ‘बड़ी शर्त यह है कि... तुम्हें हर वक्त सच्चा रहना पड़ेगा। सच्चाई का मतलब अंदर और बाहर दोनों से है। सच्चा तुम्हें मुझसे भी रहना पड़ेगा तथा सच्चा तुम्हें अपने आप से भी रहना पड़ेगा।’ बात ठीक-ठीक न समझते देख मास्टर साहब ने थोड़ा और खोला।

‘मान लो कि किसी की जेब से १०० रुपये गिरे और तुमने देख लिया, तुम्हें रुपयों की सख्त जरूरत है और तुम लाख मुसीबतों में भी हो, परंतु तुम्हारी आत्मा कहेगी कि ये १०० रुपये उसके हैं उसको वापस कर दो। तुम्हारी सच्चाई यही है कि तुम आत्मा की आवाज सुनो और उसे वापस कर दो।’ वंसू ने समझ आने जैसा सिर हिलाया।

‘दूसरा उदाहरण है, मान लो कि कड़ाके की ठंड में अगर

तुम्हारे कर्तव्य के अनुसार तुम्हें उठकर भैंस का चारा डालना है तो तुम्हें अपनी आत्मा की आवाज सुनकर, रजाई छोड़कर चारा डालने जाना चाहिए, न कि कोई बहाना सोचना चाहिए। मसलन १ घंटे बाद डाल दूँगा या चारा अभी डाला ही था या एक घण्टे चारा नहीं मिला तो भैंस मर तो नहीं जायेगी इत्यादि-इत्यादि। यही तुम्हारी अपने आप से सच्चाई है। दूसरों से सच्चाई का मतलब तुम बेहतर जानते हो।' बात जब ठीक-ठीक समझ में आती प्रतीत हुई तब मास्टर साहब थोड़ा आश्वस्त हुए। कुछ क्षण रुके और फिर पूछा- 'भैंस अच्छा दूध दे इसके लिए क्या खिलाते हो?'

वंशीलाल ने जवाब दिया- 'पिछले साल चना बहुत बोया था। वही खिला देता हूँ, दरदरा कर। एक दिन में लगभग एक पाव चला जाता है।'

इस पर मास्टर साहब मुस्कराने लगे। उन्होंने कहा- 'चना है ५० रुपये किलो तथा पशुचारा जो कि डॉक्टरों द्वारा दूध बढ़ाने के लिए प्रमाणित है, ३६ रुपये किलो। तुमने अपना कितना नुकसान कराया।'

'भइया, चना तो घर में रखा है पर पशुचारा खरीदने के लिए नकद रुपया तो नहीं है, और तो और हमें मालूम भी नहीं था।' इस पर वंशीलाल ने तपाक प्रतिक्रिया दी।

मास्टर साहब फिर मुस्कराये। उनकी भंगिमा से समझ में आया कि ये तो उन्हें मालूम है। थोड़ा और आश्वस्त होकर बोले- 'मैं तुमको ५००० रुपये दूँगा, जिससे तुम एक भैंस और खरीद सको।'

ऐसा कहकर वे चुप हो गये। वंशीलाल की तरफ टोह लेने की दृष्टि से देखने लगे। वंशीलाल कुछ समझ नहीं पाये कि मुझे ५००० रुपये यूँ ही वे कैसे दे देंगे। अभी तो मैंने १०० रुपये भी वापस नहीं किये। परंतु थोड़ा प्रसन्न भी हुए कि भइया हमारे बारे में कुछ बहुत अच्छा सोच रहे हैं।

मास्टर साहब, वंशीलाल की भावनाओं का अंदाजा लगाते हुए बोले- 'रोज रात में चार बजे उठो, भैंसों को खिलाओ, सुबेरे ६ बजे दूध निकालो तथा बिना एक बूँद भी पानी मिलाये हलवाइयों की दुकान पर जाओ। वहाँ दूध बेच आओ। कुछ दिन बाद हलवाइयों में तुम्हारी क्वालिटी तथा रोज समय पर आ जाने के कारण ज्यादा रुपया देकर दूध खरीदने की होड़ लग जायेगी। यही काम रोज शाम को चार बजे से फिर शुरू करना है तथा शाम को अपना पैसा भी लेते हुए आना है।' फिर थोड़ी देर के लिए मास्टर साहब रुके। उन्होंने देखा कि इस प्रस्ताव में भारी मेहनत है, परंतु वंशीलाल के चेहरे पर उसको स्वीकारने का भाव है।

फिर आश्वस्त होकर आगे चले- 'तुम्हें ये हमेशा ध्यान

रखना है कि दूध में पानी एक बूँद नहीं मिलाना है और समय पर रोज आना है। नागा किसी भी सूरत में नहीं होना है चाहे जाड़ा, गर्मी या बरसात कुछ हो जाये। वादा करके कभी भी वादा तोड़ना नहीं है।'

सभी बातें ठीक से समझता देखकर फिर बोले- 'जितना पैसा रोज मिलेगा उसमें से एक-तिहाई मेरे घर पर एक बक्से में डालोगे, एक-तिहाई अपने घर पर एक बक्से में डालोगे तथा बाकी बचे हुए से भैंसों का चारा, दवाई तथा अन्य खर्च चलाओगे। मेरे घर का बक्सा हर महीने तुम्हीं खोलकर मुझे गिनकर पैसा दोगे, इससे तुम्हें यह भी मालूम चलेगा कि तुम्हारे घर के बक्से में कितने पैसे इकट्ठे हो गये हैं। अपने घर का बक्सा तुम केवल साल के अन्त में खोलोगे। इस तरह तुम्हें रोज ४-५ लीटर दूध बाजार में बेचना है जिससे अगले वर्ष तुम ६-७ लीटर दूध देने वाली दो भैंसों और खरीद सको। यदि तुम्हें ऐसा करने की हिम्मत है तो बताओ?'

ऐसा कहकर मास्टर साहब ने ध्यान से वंशी का चेहरा पढ़ने की कोशिश की। वंशीलाल ने बड़ी दृढ़ता से कहा-

'भइया, आप हमारे बारे में इतना सोच रहे हैं। इतना तो हम इस जनम में कभी सोच भी न पाते और देख भी न पाते। लेकिन मेहनत करना मेरे हाथ है और आज मैं आपसे पहला वादा करता हूँ कि मैं पूरी सच्चाई से इसको निभाऊँगा।' उसकी आवाज में स्वतः ही एक जोश और खनक आ गयी।

रात होते-होते यह तय हो गया कि वंशीलाल कल जाकर कोई ठीक-ठाक भैंस तय कर आयेगे तथा मास्टर साहब से रुपया लेकर फिर कारोबार शुरू करेंगे।

मास्टर साहब ने महसूस किया कि इन ६-७ महीनों में वंशीलाल का पहनावा काफी सुधर गया है। उसकी साइकिल नई हो गयी है तथा उस पर कैन लटकाने के लिए जगह-जगह व्यवस्थाएँ बन गयी हैं। उसके घर की हालत भी सुधरने लगी है। मकान छप्पर से अब खपरैल हो गया। परंतु जो और महसूस किया वह ज्यादा महत्वपूर्ण था। इतने दिनों में वंशीलाल ने बिना किसी नागा के रोज आकर बक्से में कुछ रुपये डाले और हर महीने एक दिन उनको गिनकर मास्टर साहब को दिया।

साल के अंत में जब वंशीलाल का बक्सा खुला तो उसमें से ७२१५/- रुपये प्राप्त हुए। उसकी जानकारी बड़ी प्रसन्नता से वंशी ने मास्टर साहब को दी। उनके चेहरे पर उसने उपलब्धि और संतोष का भाव देखा। मास्टर साहब अपनी सफलता पर बेहद खुश हुए, उनके शरीर में रक्त का संचार तीव्र हो गया और ऐसा महसूस हुआ जैसे उनके जीवन में युवावस्था वापस आ गयी। उनकी बनायी स्कीम पूरे तरीके से

सफल रही। मास्टर साहब ने मिठाई मँगवायी। अपने आस-पड़ोस के व्यक्तियों को खिलाया और गर्वपूर्वक सभी को वंशीलाल की कहानी सुनायी। उन्हें पता था कि इस कार्य का मुख्य श्रेय उन्हीं को जाता है। पर प्रकट रूप में वे श्रेय वंशी को दे रहे थे। उन्होंने जाते-जाते वंशीलाल को पाँच हजार काटकर २२१५/- रुपये वापस किये।

वंशीलाल ने बहुत मना किया, बहुत कहा कि उनके बहुत अहसान हैं, वह इस जन्म में भी उन्नत नहीं होगा, पर मास्टर साहब ने हिदायत दी कि कल ही एक और भैंस लाओ जो कि ६-७ लीटर दूध एक टाइम में दे। इसके लिए तुम्हें ८-९ हजार रुपये लगेंगे। इसके बाद ६ महीने में ऐसी ही दूसरी भैंस भी तुम्हें खरीदना है। इतना बड़ा मंसूबा लेकर वंशीलाल विदा हो गये। अगले दिन वंशी ने तय कर दूसरी भैंस भी खरीद ली।

एक दिन बाद शाम को वंशीलाल जब मास्टर साहब के घर पर आये तो नमस्कार कर बैठ गये। फिर बताने लगे- 'इस बार की भैंस बड़ी तंदुरुस्त है। १५-२० दिन बाद बच्चा देगी और थन देखकर अनुमान लगता है कि ८-९ लीटर से कम क्या दूध गिरेगा बाल्टी में, बस मालिक उसको ठीक रखें। बाबूजी के कहने पर गिरधारी भैया के बड़े बेटे को अपने साथ लगा लिया है। पर मैंने तय कर दिया है कि इतना काम करना पड़ेगा तभी कुछ रुपये दे पाऊँगा नहीं तो भैया मैं कोई मजदूर कर लूँगा। गिरधारी भइया भी मान गये हैं।'

मास्टर साहब को और प्रसन्नता हुई कि एक वृक्ष के फलने-फूलने से उसकी सरपरस्ती में अन्य पौधे भी पनपने लगे हैं। उठकर वंशीलाल अंदर गये और तुरंत लौटकर आये। चिंतित से स्वर में बोले- 'भइया, वह बक्सा नहीं दिखाई पड़ रहा है?'

मास्टर साहब, वंशीलाल की मंशा समझकर जोर से हँसते हुए बोले- 'उसका तो काम खत्म हो गया वंसू। अब तो कोई आवश्यकता नहीं।'

वंशीलाल थोड़ा अपनत्व वाली नाराजगी से बोले- 'भइया आपने मूल दिया है तो जब तक मूल से रुपया बनता रहेगा, तब तक आप उसके हिस्सेदार रहेंगे, क्योंकि आप से मैंने कर्जा नहीं लिया था कि आप उसकी देनदारी का मुकदमा मुझ पर करते। आपने रुपया मुझे विश्वास पर दिया था जो कि डूब भी सकता था। आप मेरे लिए भगवान समान हैं। आपके आशीर्वाद से मेरी तकदीर जुड़ी हुई है और ये जुड़ाव का बंधन है, इससे मुझे वंचित मत कीजिए, क्योंकि यदि इससे मैं छूटा तो हो सकता है कि मेरी हालत फिर से पहले जैसी हो जाये।' ऐसा कहते-कहते उसकी आँखों में आँसू आ

गये। स्वर क्षीण हो गये तथा गला भारी हो गया।

मास्टर साहब भी इस प्रेम से मुलायम हो गये, उन्होंने उठकर वंशीलाल के कंधे पर हाथ रखा और चुप कराते हुए बोले- 'वंसू, ये तुम्हारी महानता है कि तुमने मुझे वो दर्जा दिया है जो कि बड़े-बड़े पीर, फकीरों को मिलता है। और फिर तुम तो मेरे भाई हो, आज तुम जहाँ तक भी पहुँचे हो, अपनी मेहनत, ईमानदारी से पहुँचे हो। और तो और, अभी तुम चले हो, आगे कहाँ तक निकलोगे ये तो जमाना देखेगा।'

उन्होंने वंशी को गले लगा लिया और फिर विदा किया। लेकिन जाने के पूर्व वंशी ने बक्सा रखवाकर उसमें रुपया डालना सुनिश्चित किया और यह भी सुनिश्चित किया कि यह बक्सा रोज उसके अर्पण के लिए रखा मिले। बक्सा उसके लिए मंदिर की मूर्ति के समान हो गया।



लेखक परिचय -
रणविजय

जन्म- ८ अप्रैल, १९७७

जन्म स्थान- फैजाबाद (अयोध्या)

स्कूली शिक्षा के दौरान नवोदय के छात्र रहे हैं।

शिक्षा- बी. टेक (विद्युत इंजीनियरिंग), पंत नगर विश्वविद्यालय, उत्तराखंड।

वर्तमान में कार्यरत - मुख्य विद्युत अभियंता, बनारस रेल इंजन कारखाना, वाराणसी।

साहित्यिक योगदान - प्रथम कहानी संग्रह "दर्द माँजता है" २०१८ में प्रकाशित,

दूसरा कहानी संग्रह "दिल है छोटा सा" २०२० में प्रकाशित,

प्रथम उपन्यास "ड्रैगन्स गेम" २०२१ में प्रकाशित।

विभिन्न मंचों, संस्थाओं के माध्यम से साहित्यिक गतिविधियों में सक्रिय।

रेल मंत्रालय, भारत सरकार के द्वारा 'प्रेमचंद सम्मान'।

निवास- बंगला नम्बर १७, रेलवे अधिकारी कॉलोनी,

ब रे का, वाराणसी, २२१००४

मोस्को:

आकाश की पत्तियों से चन्द्र बातें करता शहर हरिसुमन बिष्ट

मैं गाँधी के सिद्धांतों का अनुसरण करता हूँ या नहीं, यह जरूरी नहीं। मेरे लिए महत्व इस बात का है कि मैं 'गाँधी का देश' से हूँ, जिसकी अग्नि, जल, वायु, मिट्टी और आकाश में गाँधी रचा बसा हुआ है। फिर भी, मैं, आज उस देश की यात्रा को निकल रहा हूँ, जिसने दुनिया का उत्थान और पतन देखा है। जिसे चित्रों में उकेरा है, किताबों में लिखा है और संगीत में लयबद्ध किया है। जिसने विकास के क्षेत्र में समुद्र की गहराई को नापा है, आकाश के तारों और ग्रह नक्षत्रों को छुआ है। क्या यही है मेरी जिज्ञासाओं के गर्भ में, यही कि मैं दुनिया में सर्वश्रेष्ठ मनुष्य और उसके सिद्धांतों के चलते, उस भूमि के सामान्य व्यक्ति को देखने और उसका मनोविज्ञान समझने जा रहा हूँ, देखने जा रहा हूँ, आज भी गाँधी तथा उनके प्रयोग उतने ही प्रासंगिक हैं और जीवन के लिए जरूरी हैं।

नई दिल्ली : इंदिरा गाँधी अंतर्राष्ट्रीय हवाई अड्डे से दिनांक ०१ जून २०१८ प्रातः ५ बजे उड़ान भरने (जबकि एअरपोर्ट पर ३१ मई २०१८ के रातत्रि १० बजे पहुँच गए थे) और मास्को की भूमि को छूने तक ऐसा ही बहुत कुछ मन मस्तिष्क में उचल कूद करता रहा। अधिक कहने - सुनने की गुंजाईश भी नहीं थी। पूरी यात्रा में खिड़की से बाहर सुदूर अनंत की ओर तो, कभी धरती की ओर आँखें झुकती चली जा रही थीं। आसमान की तरफ देखने से कहीं अधिक धरती को देखना अच्छा लग रहा था। पर्वत, नदी, रोमांचित करते प्राकृतिक दृश्य, हरेभरे घास के मैदान-- जिन्हें हम पहाड़ के लोग अपने 'बुग्याल' कहते नहीं थकते, आबादी वाले क्षेत्र, जहाँ खिलोनों की तरह भागते वाहन दिखते तो, ऊँची इमारतें हमें ३६००० फिट तक छूने को ताक रही थीं। हवाई मार्ग से इस्लामाबाद, अदिस, अबास, लाहौर के आसमान में उड़ रहे थे तो, असगर वजाहत का ' जिस लाहौर नहीं देख्या ओ जम्याइ नइ' नाटक स्मृतियों में तैर गया।

मैं धरती पर लाहौर के होने को देखने लगा। बुखारा, समरकंद और ताशकंद के आसमान में उड़ने का आनंद सन् २०१२ में ले चुका था, इसलिए इन शहरों में की गयी यात्रा के जीवंत दृश्य आँखों में स्वभाविक रूप से, अपने सौन्दर्य के साथ तैरने लगे। काबुल, जलालाबाद तथा दुशा से आगे आसमान होते देखा, एक तरफ बगदाद, दुबई, यमन, बाकू, हेरात, अंकारा, तेहरान, अटलांटा, बुडापेस्ट, जिद्दाह, कुवैत, बीजिंग और एस्ट्रेचन की धरती पर एक साथ उतरने की इच्छा हुई। मन का क्या कहना वह और ऊँचे आसमान से तारे तोड़ने को कहता है तो कहता रहे, किसी भी हवाई यात्रा में यह संभव भी नहीं। अंततः ६००० किलोमीटर दूरी की उड़ान के उपरांत हवाई जहाज से रूस की राजधानी मास्को की भूमि को छूते ही मास्कवा नदी स्वाभाविक रूप से याद आ गयी, जिसके नाम से इस शहर को अपनी पहचान मिली थी। यह नदी अति सुन्दर और प्राचीनता तथा आधुनिकता को लिए, इतिहास, साहित्य पुरातत्व, संगीत को समेटे हुए, गगन चुम्बी इमारतों की श्रंखलाओं के बीच अपने पूरे वेग से बह रही थी।

मास्को में उतरते ही मुझे पता नहीं क्यों लगा, जिस उद्देश्य से, जिस विचार को लेकर मैं, यहाँ तक चला आया हूँ, वह विचार ही मुझे कुरेदने लगा है। एक पीड़ा, असहनीय दर्द मेरे भीतर देने लगा है। मैं एक तड़फ महसूस करने लगा हूँ। मैं बी. के. एस. रे से मन की बात कहना चाहता हूँ, वह भारतीय प्रशानिक सेवा के बड़े अधिकारी रहे हैं तो, व्यक्ति के मनोविज्ञान को भली भाँति समझते हैं। उन्होंने समझा भी और हम दोनों अपना सामान सुरक्षित स्थान पर रखकर शॉचालय की तरफ बढ़ गए।

हवाई जहाज से उतरे तो लिफ्ट से शॉचालय तक पहुँचने की व्यवस्था सुनिश्चित थी। मन खुश हुआ - भारत में यह सुविधा बहुत कम ही देखने को मिलती है। हम दोनों स्वचालित लिफ्ट के भीतर प्रवेश कर गए। बातों में यूँ उलझे

कि एकाएक दोनों भूल गए, हमें किस तल पर लिफ्ट से बाहर होना है-भू तल, अवतल या फिर अवनितल पर . किसी भी तल का संकेत रूसी भाषा और स्थानीयता को लिए हुए था , जो हमारी पहुँच से बहुत दूर था . आखिर भाषा से अपाहिज होने की अनुभूति के साथ, सांकेतिक भाषा को समझने की अक्षमता के चलते, एक बार अवतल और एक बार भूतल में यानी उत्थान और पतन के बाद अपनी भूमि, अपने एक तल पर स्वचालित लिफ्ट के दरवाजे खुल गए . और हम दोनों 'जान बची लाखों पाएँ' हिंदी मुहावरे को याद करते अंततः अपने लक्ष्य तक पहुँच गए.

वापसी का रास्ता किधर से है ? अब कहाँ जाना है ? हम दोनों लिफ्ट से वापस लौटने का जोखिम नहीं उठाना चाहते थे. मेरी दृष्टि इधर - उधर गयी और वह कोई सूचना केंद्र हो सकता है जैसा अनुमान लगाने के साथ एक खिड़की पर टिक गयी. एक व्यक्ति वहाँ अनमने भावों से खड़ा था, शायद अपने भीतर के एकांत में बहुत कुछ बुदबुदा रहा था. हम दोनों के कदम भी उस तरफ बढ़ गए. मैंने खिड़की पर बैठे जिम्मेदार व्यक्ति से पूछा, हमें लाउंज में जाना है . पूछा तो अंग्रेजी में था, हिंदी समझने को न समझने की उसकी कमजोरी का पूरा ध्यान रखा . उस व्यक्ति ने कोई उत्तर नहीं दिया और अपना दायाँ हाथ हवा में लहरा दिया. मैंने अपनी बात फिर से कही, उसने पूर्वत हाथ हिला दिया. मुझे लगा, मेरी अंग्रेजी में हाथ ही नहीं जुबान भी तंग है . मैंने निरुत्साहित आँखों से बी. के. एस. रे की तरफ देखा. मेरे चेहरे के भावों को देखकर वह , अपनी चिर परिचित मुद्रा में मुस्कराए. और फिर अपनी शैली में सहजता से बोले, ' मुझे उस व्यक्ति का डमरू की भांति हाथ हिलाना अच्छा लगा. मुझे विश्वास था, उसका जवाब यही होगा. रूस एक ऐसा देश है जहाँ रूसी भाषा के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा को महत्व नहीं दिया जाता. अपनी भाषा को स्वाभिमान से जोड़कर देखा जाता है. यहाँ तक कि ये लोग संपर्क भाषा के रूप में अंग्रेजी तक को भी कोई बड़ी अहमियत नहीं देते, अपनी भाषा को ही श्रेष्ठ समझते हैं. '

यहाँ फिर से मेरी स्मृतियों में भाषा की श्रेष्ठता का प्रश्न कोंध गया. रूस भी भारत की भांति बहु संस्कृतियों, बहुभाषी देश है . यहाँ ९९.४ प्रतिशत रूसी , ५.४८ प्रतिशत अंग्रेजी ३ प्रतिशत तातारी , १ प्रतिशत चेकेन और इससे भी कम प्रतिशत बसकिर तथा क्षेत्रीय भाषाओं को बोलने वालों

की संख्या है. चूँकि राजकाज की भाषा रूसी है, उनके लिए भाषा का स्वाभिमान और उसका सौष्ठव को बचाकर रखना, उनकी पहली प्राथमिकता है. परन्तु यह गणित हमारी बढ़ती मुश्किल से मुक्ति का रास्ता नहीं हो सकता था.

वह व्यक्ति जो थोड़ी देर पहले खिड़की से सटकर खड़ा हुआ था, थोड़ी दूरी पर खड़ा हो गया था-- संभवतः उसको भी खिड़की पर बैठे व्यक्ति ने डमरू की भांति हाथ हिलाकर निरास किया होगा, इसीलिए वह भी उदास है. यह सोचकर उस व्यक्ति से मैंने जानना चाहा. उसने झट से उदास चेहरे का नकाब उतार फेंका, उसके नीचे मुस्कान छुपी थी. और वह व्यक्ति झट से मुस्करा दिया - हो सकता है उसे हमारी तनाव में तनी हुई पेशानियों पर मुस्कराना अच्छा लगा हो -- वह भारतीय था. उसने स्वयं को गोवा से जोड़ते हुए बताया . मुझे कुछ रूबल देने होंगे मैं आपको जल्दी ही लाउंज तक ले जाऊंगा. संभवतः हमें उसकी स्पष्टवादिता से लगा, उसकी मुश्किल यह है, उसके पास खिड़की पर बैठे उस जिम्मेदार व्यक्ति को देने को रूबल नहीं हैं, जिससे अपना हिसाब चुकता कर मुक्त होना चाहता है. उससे मुक्त होने पर ही वह, हमारे साथ चल सकता है. मैंने उससे कहा, हमारे पास इस समय रूबल नहीं हैं. हमारा सारा सामान लाउंज में ही रखा हुआ है.

यह सुनना उसे अच्छा नहीं लगा. उसने 'फ्लाइट इनफार्मेशन डिस्प्ले बोर्ड' की तरफ अंगुली से इशारा करते हुए कहा, 'आप उसे देखकर अपने गंतव्य की तरफ जा सकते हैं. '

'वह सब तो रूसी भाषा में है, हम इस भाषा को नहीं पढ़ सकते और संकेतों को भी नहीं समझते हैं . ' मैंने कहा.

उसने इस पर कुछ नहीं कहा और हवा में हाथ हिलाता हुआ चला गया.

हम दोनों उसकी पीठ को देखते रह गए . स्वतंत्र भारत में अंग्रेजी भाषा के प्रति यही होता आया है. आमजन की स्थिति हमारी आज की स्थिति से भिन्न नहीं है. भोक्ता और सरकार के बीच दूरियां भाषा ने ही बनायी हैं. वह भाषा जिसे स्थानीय न समझते हैं और न व्यवहार में उसे उतार पाते हैं - चाहे उस भाषा में उनके हित की ही सौ बातें क्यों न कही जा रही हों . ऐसा भी नहीं है कि सभी स्थानीय अनपढ़ और ना समझ होते हैं - वे सबकुछ जानते हैं और भलीभांति समझते भी हैं कि पारम्परिक जीवन यापन में

व्यवहारिक ज्ञान से कही अधिक, आधुनिक तकनीकी ज्ञान लाभकारी हो सकता है . हम दोनों उस व्यक्ति की तकनीक को नहीं समझ पाए थे. यहाँ महत्व संवाद और संवाद की भाषा को न समझ पाने का है- जिसको नीतिनिर्माता भी नहीं समझते हैं या फिर न समझने का अभिनय करते हैं . हम दोनों उस व्यक्ति की नीति को अब ठीक-ठीक अवश्य समझ चुके थे. सत्य यह था कि हमारे पास देने को रूबल नहीं थे , होते तो उसके द्वारा सुझाए मध्यम मार्ग से लाउंज तक पहुँच सकते थे .

जब जुबान पंगु हो जाती है तो समझना चाहिए कि ईश्वर साथ है. यह सत्य है - गाँधी का सत्य. जिसके लिए मन की सुदृढ़ता चाहिए. हम दोनों खड़े रहे. मास्को हवाई अड्डे पर भारी व्यस्तता के बावजूद एक पल को एक पाइलट के संग क्रू मेम्बर्स तथा एयर होस्टेज की लाल रंग की वेशभूषा पर नज़र टिक गयी. हम दोनों उनकी तरफ लपके. पायलट ने फर्श पर घर्ष घिस करते , घिसते अपने हेंड बेग के ह्वील्स को उसके हथ्थे से रोका, हमसे अधिक समय की कीमत समझते हुए कहा, 'आप मेरे साथ तेज़ कदमों से चल सकते हैं.'

उसने सचेत करते हुए बताया कि उनका फ्लाईट का समय हो रहा है . हम आपात्कालीन द्वार पर खड़े हैं. यहाँ से एक बार बाहर कदम निकलने पर वापस लौटना संभव नहीं. हमने एक दूसरे को देखा जैसे सचमुच में किसी बियाबान में भटक रहे थे. उसने हमें लिफ्ट से ही हमारे लाउंज में छोड़ा और हाथ हिलाकर विदा भी ले ली .

और हम दोनों उसकी मधुर मुस्कान को देखते रहे , यहाँ तक कि उसका नाम तक नहीं पूछा और न बाई ओर दिल के ऊपर चिपकी नाम पट्टिका पर लिखा ही पढ़ पाए. उसका आभार अवश्य प्रकट किया, किन्तु उसके चेहरे से लगा, वह हमारी पेशानियों के संकेतों को समझ गया है. वह समझ गया है, हम भारत से हैं तो, वह सिर्फ 'धन्यवाद' शब्द सुनना चाहता है . उसने भी रूसी में ही 'दासवीदानिया' कहा था और हमसे मुस्कराते हुए विदा ली थी. हमें हमारी भाषा बोध का अहसास उसने कराया तो हमारे चेहरे आत्मग्लानि से लटक गए.

हमारे चेहरों से कहीं अधिक हमारे सहयोगियों की हवाइयां उड़ी हुई थीं जो, लाउंज में लौटने की प्रतीक्षा कर रहे थे. हम दोनों किसी को कुछ कहें, अपनी आपबीती सुनाएं, उनका हास्य का पात्र बनने से बचने के

लिए दबे पाँव आगे बढ़ते रहे. हमने समय से अधिक अपनी देरी से उनके बीच एक तरह से गुमशुदगी की हलचल पैदा कर दी थी.

रूसी पर्यटन विभाग की वातानुकूलित पर्यटक बस हमारा एक घंटे से अधिक समय से बाहर इंतजार कर रही थी. जब प्रतीक्षा की समय सीमा पार हो गयी तो, होटल बोस्चोदा पहुँचने की वजाय मास्को संग्रहालय यानि टॉलस्टॉय संग्रहालय देखने का निर्णय लिया गया, जोकि राजधानी मास्को के २१ टॉलस्टॉय मार्ग पर स्थित था. वहाँ जाने का यह हमारा कोई पूर्व निर्धारित कार्यक्रम नहीं था.

बस आगे बढ़ी तो, दुभाषिए गाइड ने भी अपनी उपस्थिति दर्ज कर दी . उसके 'नमस्ते' संबोधन से दिल खुश हो गया. हम अपनी जुबान में कुछ शब्द सुनना चाहते थे. अब आगे की यात्रा का शुभारम्भ हुआ. दुभाषिए से जैसे हम खुद - ब -खुद से जुड़ रहे थे. जमींदारी परिवार से तालुक रखने वाले लियो टॉलस्टॉय से जुड़ने में भी हमें किसी को समय नहीं लगा. वह हमारी ही जुबान में समझा रहा था तो, हम सभी स्वयं को अपनी जड़ों से जोड़ने लगे. हम में कोई भारतीय ऐसा नहीं हो सकता था, जो किसानों से न जुड़ा रहा हो. छोटी जोत का या फिर बड़ी जोत का बड़े किसान परिवार से सम्बन्ध रखने वाला हो सकता था, किन्तु सामंती परिवार या उस सोच का नहीं हो सकता था. फिर भी महान लेखक टॉलस्टॉय की जीवन कहानी को कंथ की तरह सुनते रहे और उससे जुड़ते रहे, उसे आत्मसात करते रहे.

टॉलस्टॉय का जन्म २८ अगस्त १८२८ में रूस के एक सम्पन्न परिवार में हुआ था. बचपन में माता-पिता का देहावसान होने पर उनकी चाची कात्याना ने उनका पालन पोषण किया था. उनकी उत्तम शिक्षा- दीक्षा के साथ उन्हें शिकार, घुड़ सवारी, नृत्य संगीत, शारीरिक विकास के लिए अनेक खेलों का प्रशिक्षण देने तथा पूर्वी भाषाओं और विधि संहिताओं का अध्ययन भी करवाया था. रियासत के बटवारे से उपजी कठिनाई के चलते वह अपनी स्नातक की पढ़ाई पूरी नहीं कर पाए थे. सन् १८५१ में वह कुछ समय के लिए सेना में नियुक्त हुए. उन्हें काकेशस के पर्वतीय कबीलों से लड़ने भेज दिया गया था . जहाँ समय मिलते ही अपने पढ़ने -लिखने की आदत को सुचारु रखने का प्रयास वे करते रहे. यहीं पर सन् १८५२ में उन्होंने अपनी पहली

रचना 'चाइल्डहुड' लिखी थी .जोकि 'दि कंटेम्पेरी' नामक पत्र में एल.टी. नाम से प्रकाशित हुई थी . सन् १८६२ में उनका विवाह एक संभ्रांत परिवार से हुआ. विवाह के उपरान्त कुछ सालों तक भाग्य ने भी अच्छा साथ दिया-- सब कुछ ठीक ठाक चल रहा था. सन् १८६३ से १८६९ के बीच उन्होंने 'युद्ध और शांति' (व्हैम्प्ट्री) और सन् १८७३ से १८७६ के बीच 'अन्ना कारेनिना' (लेव् टॉल्स्टॉय) लिखा . इन दोनों रचनाओं के प्रकाशन से टॉलस्टॉय को ख्याति तो भरपूर मिली, किन्तु वह आनंद और वैवाहिक सुख अधिक साथ नहीं दे सका.

सन् १८७५ से जो कठिनाइयां - परेशानियां शुरू हुई थीं, जोकि सन् १८७९ तक उनके जीवन के साथ चिपकी रहीं. उन परेशानियों और मुश्किलों ने उन्हें पूरी तरह से तोड़ दिया. यहाँ तककि ईश्वर पर से भी उनका विश्वास और आस्था उठ गयी थी . वे आत्महत्या करने तक का मन बना चुके थे.किन्तु वह जानते थे, ऐसी विकट एवं विपरीत परिस्थियाँ अधिक समय तक साथ नहीं चलतीं. कठिनाइयों के बावजूद उन्होंने अपने भीतर के लेखक को कमजोर नहीं पड़ने दिया था . सन् १८७८ -७९ में अ कॉन्फेशन (मदहीगदह) की रचना की . सन् १८८६ में ऊप्लूटिन्ट का प्रकाशन हुआ था. उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक उनके मन में इतना सेवाभाव गरीबों और असहाय लोगों के प्रति बढ़ गया कि उन्होंने रूस में उनकी पुस्तकों से होने वाली आमदनी दान कर दी और अपनी पत्नी को उतना ही अंश दिया, जितने में वह अपना भरण पोषण अनिवार्य रूप में कर सकती थी.

गाइड से टॉलस्टॉय की जीवन कथा सुनते हुए लगभग सभी सहयात्री भावुकता से असहज हो चुके थे. महिला सहयात्रियों की आँखें तक नम हो आई थीं. अभी जीवन की इस संक्षिप्त कथा को समेटा जाना था,उससे पहले गाइड ने बताया, हम टॉलस्टॉय संग्रहालय पहुँच चुके हैं. उसने यहाँ कैमरा उपयोग भी वर्जित होने की सूचना दे दी.

अब हम विश्व के महान रचनाकार की स्मृतियों से भरी उस इमारत के सामने थे, जिसकी ऊपरी मंजिल के १६ कमरों में जीवन की जरूरी हर वस्तु सुसज्जित कर रखी गयी थीं. इमारत में अधिकतम इमारती लकड़ी का उपयोग किया गया था, यहाँ तक कि छत पर भी इमारती लकड़ी देखने को मिल रही थी. पहली मंजिल में चढ़ने के

लिए सामान्य लकड़ी से बनी संकरी सीढ़ी, जिससे पंक्ति में एक तरफ को ही चढ़ सकते थे. गैलरी भी सामान्य सी. इन कक्षों में एक कक्ष उनकी पुत्री का था ,बैठक,सेवक कक्ष , शयन कक्ष , अध्ययन कक्ष और उनके यहाँ रहते जीवन की जरूरी सामग्री करीने से सज कर प्रदर्शित की हुई थी. नीचे के तल में बने कक्षों में कार्यालय के कर्मचारी रहते थे . यहाँ एक महान व्यक्तित्व की उपस्थिति की अनुभूति होने लगी . इमारत में प्रवेश के समय टॉलस्टॉय की आदम कद मूर्ति को देखकर ही, उनकी जीवन्तता का एहसास होने लगा, जिससे हर कोई अपनी संवेदनाओं से जोड़कर फोटो खींच लेना चाहता था - हमने भी बारी-बारी से वही किया.

अब समय काफी हो चुका था. गाइड जिस टॉलस्टॉय को बयासी साल की उम्र में, एक सुदूर रूसी गाँव अस्तापोवो के रेलवे स्टेशन पर ७ नवम्बर, १९१० को निमोनिया से हुई उनकी मृत्यु का कारण बता रही थी, उससे एक बार फिर मन भर आया था. ऊपर से लम्बी हवाई यात्रा की थकान जो, थोड़ी देर के लिए फुर्र हो गयी थी, वह भी अब उबासियों पर उतार आई , किन्तु मन इतना बेमान हो रहा था, जो टॉलस्टॉय की आदम कद की मूर्ति की लम्बी दाड़ी पर से आँखों को देखने से हटने नहीं दे रहा था.

तीन बज़ चुके थे . होटल बोस्चोदा में रे और मैं एक कक्ष को सांझा करना चाहते थे. हम दोनों ने एक जैसा ही सोचा था. दरअसल समय मिलते ही बातचीत कर रूस की इस यात्रा को यादगार बना लेना चाहते थे. वही हुआ, हमारी एक ही कमरे में ठहरने की व्यवस्था सुनिश्चित हो भी गयी. एक सुलझे, विद्वान का साथ मेरे भाग्य संयोग से जुड़ रहा था, वहीं उन्होंने मुझ में सहजपन होने के मनोविज्ञान को भी समझ लिया था. अमूमन मेरा अनुभव ऐसे अधिकारियों से रह चुका था, जो सेवानिवृत्ति के उपरान्त भी अपने अतीत के लटकों- झटकों से मुक्त नहीं हो पाते थे, जो कुशल समाजी होना तो बहुत दूर उसकी सामाजिकता को सही रूप में छू तक नहीं पाते थे . बी. के.एस.रे को --उन्हें उनके लेखक होने से एकदम अपवाद बना दिया था.

दूसरा दिन के होने का एहसास हुआ.

होटल की खिड़कियों के शीशों पर लटक रहे पर्दों को पार कर तेज़ रौशनी कमरे में फ़ैल चुकी थी. घड़ी देखी तो रात के तीन बजे थे. दिशा भ्रम हुआ. आँखें अभी जल रही थीं, नींद अपना समय पूरा नहीं ले पायी थीं. फिर से सो गया . जब नींद से जगा तो मास्को में होने का

अहसास हुआ. जहाँ समय भारत के समय से भिन्न था. भिन्नता समय में नहीं घड़ी की सुइयों में थी, जिनका मिलान हम लोग नहीं कर पाए थे. रात में मैं भूल गया था कि यहाँ दिन बड़े और रातें छोटी होती हैं. यहाँ का दिन १७ घंटे का दिन होता है. जब रात्रि ९ बजे सूरज अस्त हुआ था तो, सुबह ३ बजकर ३० मिनट पर सूर्योदय का होना निश्चित था.

आज सेमीनार का आयोजन इसी होटल में होना था, इसलिए किसी भी तरह की हड़बड़ी नहीं थी. बस के चले जाने का खटका नहीं था. वैसे भी सेमीनार का विषय विश्व मानवतावाद की चिंता से जुड़ा था तो, हम अपने पीछे छूट जाने की चिंता से मुक्त भी नहीं रह सकते थे. दरअसल इस आयोजन को मास्को स्थित भारतीय दूतावास में सम्पन्न होना था, जैसाकि आयोजकों ने बताया था, वह संभव नहीं हो सका. अतः चिंतित आयोजकों के संग हम भी शामिल हो गए.

सुचारू रूप में आयोजन आरम्भ हुआ. रचनाकार सहयोगियों के साथ आयोजन में मेरे उपन्यास 'भीतर कई एकांत' का लोकार्पण हुआ और विश्व के अद्भुत कथाकार आन्तोन चेखव जो १९ वीं शताब्दी के मध्य में ही विश्व के सर्वश्रेष्ठ कथाकारों की अग्रिम पंक्ति में स्थान पा चुके थे, जिन्होंने अपनी रचनाओं में अति सूक्ष्म मानवीय संवेदनाओं, पीड़ा और वेदनाओं का अत्यंत सहज चित्रण किया, वह असाधारण व्यक्तित्व के धनी होने के बावजूद साधारण मनुष्य थे. महान लेखक गोर्की तक उनके सरल एवं जूझारू व्यक्तित्व से प्रभावित थे. उनके नाम से स्थापित अन्तोन चेखव सम्मान को मैंने प्राप्त किया और उसके भारी से धीरे- धीरे मैं दबने लगा था- जो लेखन के प्रति बढ़ती मेरी जिम्मेदारी का संकेत था. अब उसमें मेरा सौभाग्य शामिल हो चुका था.

कार्यक्रम को आगे बढ़ाते हुए भारत से छत्तीसगढ़ की ममता आहार ने सांस्कृतिक प्रस्तुति में हिंदी की विलक्षण कवियत्री मीराबाई की श्रीकृष्ण से आसक्ति और अनुरक्ति विषयक लघु नाट्य प्रस्तुति दी तो, रूस की नृत्यांगना ओलगा तिस्चेंको ने अपने भावपूर्ण नृत्य से भारत और रूस की मिश्रित संस्कृति का भव्य मनोहारी प्रदर्शन किया था. मास्को में हिंदी के प्रोफेसर इलिया ओस्तापेंको ने जहाँ दुभाषिए का काम किया वहीं, श्रीमती दरया बातुरिना, जो भारतीय शैली में नृत्यों की विशेषज्ञ हैं, और व्यवसायिकता

से चिकित्सक हैं, ने भरपूर अपनी नृत्य की भाव- भंगिमाओं से सबका मन मुग्ध कर दिया. अपने उपन्यास 'आखरी-मछरी' का अनुवाद ऊर्पुर्द्वी स्दर्ह्वुत् की एक प्रति, जिसे मैं अपने साथ ले गया था, उसे भेंट किया और श्रीमती दरया ने उसे प्राप्त किया और खुशी-खुशी फोटो भी खिंचवाया, जिसे उसी समय उन्होंने अपने सोशल मीडिया पेज पर भी चस्पा कर दिया था.

तीसरा दिन मास्को के ब्लैक हॉउस में.

यह था एकदम चौंकाने वाला नाम. इस हॉउस में पुश्किन और उनकी पत्नी अनालिया मरोवा तीन साल रहे थे. यह नाम उनके इस घर का था. इस घर के सामने सड़क पर पुश्किन और उनकी पत्नी के काले पत्थर से बनी आदमकद युगल प्रतिमा थी. पुश्किन यानि एलेक्जेंडर पुश्किन. रूसी भाषा के छायावादी कवियों में से एक श्रेष्ठ कवि. रोमांटिक कवि. जीनियस कवि और उल्लास से भरा अति तीक्ष्ण बुद्धि का एक स्वच्छंद प्रेमी. जिसका जन्म सन् ६ जून, १७९९ में इसी मास्को शहर में हुआ था. ३८ साल की अल्पायु में जो जारशाही के आतंक का शिकार बन गया. वह कवि जिसने आधुनिक रूसी कविता को स्थापित किया. जिसकी प्रशंसा में पुश्किन साहित्य की अध्येता आना अख्मातवा ने कई कविताएँ लिखी थीं. वही आना अख्मातवा जिनकी कविताओं को मैं पढ़ चुका था, उनका मैं प्रसंशक था. रूस की प्रख्यात कवियत्री थीं. उनका जन्म १९ जून १८८९ को काला सागर के निकट बोल्शोई फोंतान में, बचपन सेंट पीटर्सबर्ग में बीता. कीव और पीटर्सबर्ग में उन्होंने इतिहास तथा साहित्य की शिक्षा प्राप्त की. सन् १९०७ से उनकी कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगी थीं. पहला कविता संग्रह 'संध्या' सन् १९१२ में प्रकाशित हुआ था. प्रेम, करुणा तथा गहन समवेदनाओं से युक्त अख्मातवा की कविताएँ सोवियत रूस में लोकप्रिय हुई थीं. वह बीसवीं सदी में रूस की सबसे अधिक पढ़ी जाने वाली कवियत्री थीं. सन् १९६६ में उनका निधन हुआ था. उन्होंने सन् १९३० से १९६० तक पुश्किन पर अपनी एक लेख माला भी प्रकाशित की थी. उनकी एक कविता जो पुश्किन के लिए लिखी थी --याद आ गयी :

बिना	किसी	चिंता	वे
भरा	था	मेरा	मन
गोया प्यास में पी हो मैंने वह अग्नि ऊष्मा ...			
हवा	निर्मित	प्रासाद	की तरह
अचल	था	आकाश	में

सबसे उजला बादल.

पुश्किन जैसे महान कवि के घर को देखने की हमारी उत्कट इच्छा को तब झटका लगा, जब मालूम चला, आज रविवार है. सड़क में भारी भीड़ है. सड़क के दोनों तरफ सजी हुई दुकानें सस्ती और विविधता लिए हुए बाज़ार की छटा देखते बन रही थी. यह मास्को का अबसे सस्ता बाज़ार था जैसा बताया गया. परन्तु कुछ साथियों ने बाज़ार करने की इच्छा जताई तो, किसी ने इससे सस्ता बाज़ार अपने-अपने शहर होने का ओना कोना चिन्हित कर लिया था. भीड़ को देखकर भारत के शहरों में लगने वाले साप्ताहिक बाज़ारों की याद ताज़ा हो आयी . और हम मास्को के उस बाज़ार में होने के बावजूद अपने-अपने शहर के बाज़ारों में खड़े थे. चीजें सस्ती -महंगी, मज़बूत टिकाऊ के विमर्श में उलझे हुए थे. अंततः निर्णय हुआ कि यहाँ से आगे बढ़ा जाय. यहाँ सड़क पर बढ़ती भीड़ को देखते हुए निकल पाना मुश्किल होता जाएगा.

बोस्चोड रेलवे स्टेशन की इस रोड पर दूर तक नज़र दौड़ाई-- रूस का विदेश मंत्रालय का भवन दिखा. जिसके भवनों को सेवन सिस्टर नाम दिया गया था. इन भवनों में विभिन्न मंत्रालयों के कार्यालय थे .चौराहे पर चर्च था,जिसे मोमेंट ऑफ़ किवाविस्कल के नाम से जाना जाता है. जब हम 'ब्लैक हॉउस' को निहार रहे थे, तब एकाएक पुश्किन के साथ ज़ारशाही का नाम जुड़ गया था तो, एन वक्त स्टेट ट्रेट्याकोव पिक्चर गैलरी के सजीव बोलते हुए चित्र स्मृति में उमड़-घुमड़ आए . इस विश्व प्रसिद्ध गैलरी को देखने का उद्देश्य घर से चलने के समय ही बना लिया था. जैसा इन चित्रों के विषय में पढ़ा और सुना हुआ था. गूगल ने उस जानकारी को और अधिक पुख्ता किया था. वे चित्र हू-ब-हु वैसे ही थे. जारशाही से लेकर वर्तमान तक के चित्र एकदम करीने से सज किए हुए. जिनमें प्राकृतिक युद्धों के चित्र, घरेलू चित्र , ग्रामीण परिवेश के चित्रों की विविधता और बहुलता थी. सबसे आकर्षक जारशाही के पारिवारिक चित्र थे. मध्यम और बहुत बड़े आकर के चित्रों के संग हाशिए पर के लोगों के चित्रों को भी प्रमुखता दी गयी थी, जिनमें दस्तकारों, भिखारियों के चित्रों को सराहा जा सकता था.

चित्रों को कैमरे में कैद न करने की चेतावनी के बावजूद सभी स्वेत श्याम और रंगीन चित्र लेने पर जुटे हुए थे. चित्र खींचने की होड़ाहोड़ी से यह बात

पुख्ता हो रही थी कि हम लोग चित्रों की बारीकियों और उनमें रंग प्रयोग की कला कुशलता को समझना नहीं चाहते हैं . उन सुर्ख लाल रंगों की तपिश और अन्य रंगों की मुलायमियत की अनुभूति नहीं करना चाहते हैं. सिर्फ उनकी भव्यता को कैमरे की अँधेरी गैलरी में धकेलना चाहते हैं. जिन पर क्लिक का औचित्य सिर्फ मोबाईल की मेमोरी को भरना और फिर एक दिन नष्ट कर देने से अधिक नहीं हो सकता था. अधिकतर भारतीय सहयात्रियों के प्रति यह धरणा मेरे मन में अपनी अन्य यात्राओं के अनुभव पर बनी हुई थी. इस पिक्चर गैलरी को देख लेने के बाद वह अधिक पुख्ता हुई और हम लोग तेज़ी के साथ स्टेट ट्रेट्याकोव गैलरी की तरफ बढ़ गए.

इस संग्रहालय को सबसे पहले पावेल ट्रेट्याकोव नाम के रूसी टैक्सटाइल व्यवसायी ने अपने प्रयासों से चित्रों को सन् १८५६ में संग्रहीत कर किया था. उसने इसकी स्थापना पर लिखा था, 'रूसी चित्रकारों की पेंटिंग्स के संग्रह और उनका संरक्षण के अलावा मेरे लिए और कोई अच्छी चीज नहीं हो सकती, जिसे मैंने अपनी प्रारम्भिक युवावस्था से शुरू किया था.' मैं गाइड आज्ञा से इस स्टेट ट्रेट्याकोव गैलरी और पावेल ट्रेट्याकोव व्यक्ति के विषय में बहुत कुछ जानना चाहता था, किन्तु सहयात्रियों की मेरी उत्सुकता में कोई रूचि नहीं थी, वे समूह में इस गैलरी से भी तेज़ी से बाहर निकल आये.

मुझे बड़ी देर तक इस संग्रहालय को भलीभांति न देखने और समझ पाने को-- बहुत कुछ छूट जाने का अफसोस होता रहा. फिर भी गाइड ने बताया कि यह गैलरी हस्त निर्मित चित्रों के संग्रह के लिए प्रसिद्ध है. यहाँ १२ वीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी तक के चित्र संग्रहीत हैं. यह अपनी तरह की अद्वितीय गैलरी है, जो अपनी विशिष्टताओं को लिए हुए, लगभग एक हजार वर्षों की हस्त निर्मित दुर्लभ चित्रों की एक मात्र चित्रकारी का विशाल एवं भव्य संग्रहालय है.

बाहर हमारे संग साथी प्रतीक्षा कर रहे थे.

यह तो तय था, वे लोग हमें छोड़कर आगे नहीं बढ़ सकते थे. आज्ञा हमारे साथ थी. उसे भी उनका एकाएक बाहर निकलकर प्रतीक्षा करने को अच्छा नहीं लगा. उसने उन्हें गैलरी की विशेषता और श्रेष्ठता को बताना चाहा, किन्तु सभी की आँखें दूर तक जाती सड़क पर टिकी हुई थीं, जहाँ उन्हें न सड़क पर कोई होर्डिंग और पोस्टर दिखा

,न ही किसी राजनैतिक व्यक्ति का कट आउट और न ही आवारा घूमते पशु दिखे. जिनमें गाय, सांड,सूअर और कुत्ते -बिल्ली प्रमुख होते थे,जिन्हें अपने देश की राजधानी सहित नगरों, महानगरों के मुख्य मार्गों सहित गली कूचों में आवारा घूमते- टहलते हुए आँखें देखने की अभ्यस्त थीं. यहाँ बहुत कुछ था देखने और समझने को. जिन्हें हमने बस से ही देखा उनमें मस्कियर चेरिटेबल अकादेमी, मस्क्वा रिवर ,लेनिन ग्रादस्की होटल, महान लेखक दोस्तोवस्की का स्टेच्यु, सीनेट और एक चौराहे पर लगी पुश्किन और उनकी पत्नी अन्नालिया मरोवा की मूर्ति थी .

‘माँ’ उपन्यास का नाम दुनिया में भला कौन नहीं जानता होगा. उस अमर कृति के रचनाकार हैं मैक्सिम गोर्की . गोर्की हॉउस का भ्रमण हमारे चौथे दिन यानि ४ जून २०१८ के कार्यक्रम में सुनियोजित था. ६ मलाया निकितस्काया स्ट्रीट पर बनी यह आधुनिक शैली के वास्तुशिल्प की अद्भुत कला परिकल्पना है, जिसे रूसी में ‘आर्ट नोव्यू’ कहते हैं. इसे मास्को में वास्तुकार फ्योडोरशेचटेल द्वारा सन् १९००-०३ में बनाया गया था. इसे प्रसिद्ध उद्योग पति स्टीफन रयाबौचिंस्की हाउस के नाम से भी जाना जाता है.

सन् १९१७ में रूसी क्रांति के बाद रयाबौचिंस्की परिवार की सारी सम्पति बोल्शेविकों द्वारा जब्त कर ली गयी. जिस कारण से उन्हें देश छोड़कर जाना पड़ा. तदुपरांत सन् १९३१में स्टॅलिन और सोवियत सरकार ने प्रतिष्ठित लेखक मैक्सिम गोर्की और उनके परिवार को घर देने की पेशकश की थी. और उन्होंने यहाँ रहना भी स्वीकार कर लिया था. गोर्की के विषय में कहा जाता हैकि वे उन दिनों इटली के सोरेंटो में रह रहे थे, किन्तु नियमित रूप से उनका मास्को आना - जाना लगा रहता था. सन् १९३६ में गोर्की का देहावसान हो गया. उसके बाद उनके पुत्र की विधवा नादेज्दा पेचकोवा सन् १९६५ में अपने जीवन के अंतिम पल तक तक यहाँ रहीं. भले ही नादेज्दा पेचकोवा के जीवित रहते इसे संग्रहालय बनाने का कार्य शुरू हो चुका था, किन्तु सही मायने में उनकी मृत्यु के उपरांत ही इस घर को अधिकारिक रूप से गोर्की संग्रहालय बनया गया था .

इस संग्रहालय के भू तल पर भोजन कक्ष सबसे बड़े कमरों में से एक था. एक स्वागत कक्ष - जिसमें सन् १९३० के दशक का सजावटी फर्नीचर मौजूद था.दीवारों और छत पर विशिष्ट सजावटी बेलबूटे यानि फूल पत्तियां

बनी हुई दिखीं . डाइनिंग रूम ,कैबिनेट स्टडी और आधुनिकता को लिए हुए शीशे की सुन्दर सजी खिड़कियाँ दिखीं . गाइड ने दूर से ही गोर्की का कक्ष भी दिखाया जो भू तल पर था. उनके शयन कक्ष में उनकी प्रिय स्मृतियों में से एक, उनके बेटे मैक्सिम का चित्र का होना भी बताया, जो अपने पिता के सामने मृत्यु को प्राप्त हुआ था. मुख्य सीढ़ी पर खिड़की थी ,जिसे हमने दूर से ही देख लिया था. यहाँ यह बताना जरूरी है कि यह तीन मंजिला सीढ़ी थी . इसकी बनावट ही कुछ इस तरह से थी कि घर के सभी प्रमुख कमरे सीढ़ी पर ही खुलते हैं. उनका पुत्र मैक्सिम अपनी पत्नी नादेज्दा और पुत्रियाँ --दारा तथा मार्फा के साथ पहले तल पर रहता था. सीढ़ी की रेलिंग संगमरमर और ग्रेनाईट के टुकड़ों से बनी- ताज़ा पोलिश की हुई एकदम चमकदार .यहाँ पर बना गोर्की पुस्तकालय के महत्व को समझा जा सकता था . पांच कक्षों में लगभग पांच हजार पुस्तकें सुव्यवस्थित रखी हुईं. गोर्की की रचनाओं और उनके विचारों को भव्य रूप में संगृहीत किया हुआ . गोर्की की छड़ी, जूते और कोट रखे हुए . और एक आगंतुक पुस्तक भी , जिस पर अनिवार्य रूप से आगंतुक को अपनी उपस्थिति दर्ज करनी होती है.

संयोग ऐसा बना, हम उस पुस्तक पर स्वयं को, हममें से कोई भी, दर्ज नहीं कर पाया. यह अफ़सोस वैसा ही हुआ जैसे कौसानी में महाकवि सुमित्रा नंदन पन्त की पंथ वीथिका और लमही में प्रेमचंद के घर की दीवारों की बीच छूटी रिक्तिकता को देख कर हुआ था. हम अपने लेखकों ,कलाकारों को वह सम्मान क्यों नहीं दे पाते, अपनी धरोहर की प्राथमिकता में नहीं रख पाते जैसे की रूसियों के रक्त में सम्मान भाव शामिल है ...

जब हम इस भवन की सुन्दरता का आनंद ले रहे थे, उसी समय मन में रह-रह कर अतीत और वर्तमान के बीच तादात्म्य स्थापित करने का प्रयास चल रहा था - इस दृष्टि से उसमें सफलता भी प्राप्त हो रही थी. भव्य भवन की छत और दीवारों पर उकेरे भीति चित्रों की सजावट पर मुग्ध हो रहे थे. उसका असल प्राकृतिक सौन्दर्य यहाँ के तिराहों,चौराहों और सार्वजानिक स्थलों पर भी देखने को मिल रहा था. जब छत पर उकेरे चित्रों को देख रहे थे, लग रहा था, सैंकड़ों वर्ष पूर्व उकेरे फूल- पत्तियों को आज सुबह -सबरे जड़ दिया होगा --एकदम ताज़ा प्रतीत हो रही थीं. जिनकी चमक और ताज़गी आज भी जस- तस बनी हुई. वही विभिन्न किस्म की पत्तियों का हरा गहरा प्राकृतिक रंग

और गहरे सुर्ख रंग फूलों में भरे हुए थे.उनमें जिस रूप में जीवन्तता- जो बाहर देखने को मिल रही थी, वैसी ही, उतनी ही , अनुभूति भीतर भी. यह सिर्फ किसी एतिहासिक भवन का सजना और संवारना भर नहीं था, बल्कि मास्को की जिस सड़क, जिस खुले मैदान और जिस सार्वजनिक स्थल पर दृष्टि पड़ती तो, करीने की सजावट को देख, आँखें जैसे अवलोकन करते चिपक सी जातीं. सड़कों पर लगे खम्बों पर पुष्पों की टोकरियां चूँ लटक रही होतीं, गोया उन्हें धरती को स्वर्ग सा बनाने को यहाँ इस ऊंचाई तक पहुँचने में समय नहीं लगा होगा - अब किसी भी पल धरती के दूसरे कोने को भी छू लेंगी.

चारों तरफ रंग- बिरंगे भांति-भांति के पुष्प और पौधे जितना सुरम्य वातावरण निर्मित कर रहे थे, उससे लगा, एक पुष्प चुन लूँ अपनी धरती के लिए ताकि उसका वंश फल- फूलकर महके हमारे धरा धाम के गली-मुहल्लों, सड़कों- चौराहों और लोगों के दिलों में. कोई न चुने यहाँ कोई फूल और पत्तियों को रूसियों की भाँति. कोई युवा न दे तोड़कर कलि किसी युवती को. न चढ़े चादर किसी निर्जीव शरीर पर ,और न ही किसी मंदिर की दहलीज़ पर. रूसी लोग नहीं तोड़ते फूल उसे तोड़ना अपराध नहीं, उससे कहीं अधिक अशुभ मानते हैं. कोई नहीं देता पुष्प किसी बाला और किसी महिला को . हर फूल को बचा लेना चाहते हैं उसमें बसी सुगंध को . उनकी झरती पंखुड़ियों को भी बचा लेना चाहते हैं अपने शहीदों की कब्रस्तान और शहीद स्थलों के लिए. उन्हें ही सज करना फूल अपना सौभाग्य मानते हैं और रूसी भी .

किसी भी शहर से दूर ले जाती, अपने गंतव्य की ओर बढ़ती सड़क अकेले नहीं होती.कोच ट्री का साथ उसे हमेशा मिलता है. कोच ट्री की लम्बी कतारें सम्पूर्ण धरती की हरियाली को समेटे हुए सुन्दर फूल और फल नहीं-- भरपूर प्राण वायु देती हैं. उनकी घनी पत्तियों की ओट में बड़े-बड़े फार्म हॉउस,पॉली हॉउस होते हैं . बारिश की मोटी-मोटी बूंदों का धरती पर गिरने से पहले पत्तियां, हर बूँद को अपने आँचल में भरने को तत्पर रहती हैं ,ताकि बची रहे मिट्टी धरती में और उसमें उसकी उर्वरता भी.

कोई भी राष्ट्र सामरिक शक्ति के बल पर ही अधिक समय तक सुदृढ़ नहीं रह सकता, अपनी धरती और उसकी नैसर्गिकता को बचाने से ही उसकी समृद्धि बनी रहेगी. इस उपक्रम में रूस ने अपने को समृद्ध किया है.

मैंने मास्को को करीब से देखा है. वह बहुत सुन्दर और कलात्मकता लिए हुए एक बेजोड़ शहर है. जहाँ चारों तरफ हरियाली है और कोच ट्री की गजिन शाखाओं की ओट में सेब, स्ट्राबेरी, संतरे, नीबू, अंजीर के पेड़ दिखते हैं तो वहीं ,भारत से भिन्न किस्म के अनेक प्रकार के पेड़ भी प्रचुर संख्या में दिखाई देते हैं.जहाँ तक जिस ओर दृष्टि जाती है, कहीं भी यूकिलिप्टस के पेड़ नहीं दीखते. आज जब मास्को का यह वृतांत लिख रहा हूँ, भारत के हर कोने में कटते मैदान, वन, ढूहते पहाड़ और सूखते जल स्रोत तो कहीं आग और बाढ़ से तबाही की खबर सुन रहा हूँ.

उत्तर भारत में भूस्खलन से पहाड़ काँप रहे हैं.अंधाधुंध पहाड़ों का कटान और कारतूस से पहाड़ के सीने को उधेड़ने का खेल निर्वाध चल रहा है. बांज-बुरांश और चौड़ी पत्तीदार जंगलों की ठौर चीड़ ने ले ली है . मैदानी क्षेत्र में भी तबाही की खबर कम भयावह नहीं है. आम,लीची, शहतूत के वृक्षों की जगह यूकिलिप्टस की खेती ने ले ली है. जिनसे पर्यावरण ही प्रदूषित नहीं हो रहा, जीवन भी नष्ट हो रहा है. पानी के प्राकृतिक स्रोत खत्म होने के साथ ही नदियाँ सूख रही हैं और मैदान उतरते ही अवैध खनन , शहरों का कचरा, प्लास्टिक और शहरों की गन्दगी को ढोती नदियों का सौष्ठव नष्ट होने के साथ, उन्हें स्वच्छ और गतिमान रखने वाले जीव भी मर रहे हैं. उनके जीवित रहने के अधिकार छीन लेने का सिलसिला जारी है. मुझे लगता है ,जब रूस हमारा मित्र राष्ट्र है तो उससे हमें नैसर्गिक जीवन जीने के अधिकार को बचाने का हुनर भी सीखना होगा. फिलवक्त इतना ही .



राष्ट्र के नैतिक उत्थान में मोबाइल का योगदान

राजेन्द्र सहगल

कब से देशवासी नैतिक उत्थान के लिए तड़प रहे थे पर सब बेकार हुआ जाता था। भला हो मोबाइल के आने का। सब कुछ खुशनुमा नजर आने लगा है। सभी व्यस्त हो गए हैं। आदमी एक हाथ से कार की स्टीयरिंग सँभाले है तो दूसरी हाथ में मोबाइल थामे हुए है। ऑफिस में हर तरफ घंटियाँ बज रही हैं। सड़कों पर लड़के-लड़कियाँ चलते-चलते मोबाइल पर बात कर रहे हैं। सभी को सभी से काम है। सभी को लगने लगा है वे एकदम जरूरी हो गए हैं। सभी महत्वपूर्ण हो गए हैं। अभी-अभी घर से ऑफिस या दुकान के लिए निकले हैं। पहुँचते ही बता रहे हैं, 'मैं पहुँच गया हूँ। फिक्क मत करना।' दूसरे को फिक्क हो न हो जबरदस्ती फिक्क पैदा की जा रही है। सभी की गतिविधियाँ इतिहास में दर्ज होने लगी हैं। आधे-आधे घंटे बाद अपने सकुशल होने की खबर दी जा रही है। गाड़ी में सवार यात्री हर स्टेशन पर पहुँचकर बता रहा है कि अब गाड़ी इस स्टेशन पर पहुँच गई है।

कॉलेज के लड़के-लड़कियाँ को प्यार करने में आसानी हो गई है। जिसके पास मोबाइल नहीं उसकी जिंदगी में प्यार नहीं उतर रहा। प्यार करने के लिए मोबाइल पहली जरूरत है। अब मान लो प्रेमिका को एक खास वक्त लगे कि उसे अपने प्रेमी को 'आई लव यू' कहना है और प्रेमी महोदय के पास सेलफोन नहीं तो हो गया न प्यार खत्म। यह मोबाइल ही है जो प्यार को बचाए रखता है। दूसरे से मिलकर विदा होने वाला अपनी बात मिलते वक्त पूरी नहीं करता। वह चलते-चलते बता रहा है कि बाकी बात फोन पर कर लेंगे। वो वक्त दूर नहीं जब इस बात का विशेष तौर पर उल्लेख किया जाएगा कि फलौं-फलौं से उन्होंने आमने-सामने बात की।

पति-पत्नी में एकाएक प्यार हिलारे लेने लगा है। कल तक जो पति-पत्नी पास बैठकर भी एक-दूसरे से बात करना वक्त की बर्बादी समझते थे अब हर दो घंटे बाद कुशलता पूछने के लिए या घर में दाल-सब्जी बनाने से पहले पूछताछ करने लगे हैं। नौकरानी मालकिन को काम पर न

आने की सूचना अपने मोबाइल से दे रही है। सड़क पर झाड़ू देने वाले की कमर में भी मोबाइल लगा है। झाड़ू-बुहार करने वाली हर घंटे माथे पर उभरे पसीने पोंछती हुई मोबाइल की धूल को भी साफ कर लेती है। सब एक-दूसरे के करीब आ गए हैं। भेदभाव, ऊँच-नीच सब मिटता जा रहा है। सभी को अपना महत्व पता लगने लगा है। लगता है जिंदगी में अब कुछ कर गुजरेंगे। सभी ने वक्त को हाथ में कसकर पकड़ लिया है। संवाद वही जो फोन पर हो। आमने-सामने बात करना पिछड़ापन है। सेल पर बात करना एडवांसमेंट है। जमाने के साथ कदम मिलाकर चलना है।

मोबाइल पर प्यार करना आसान हो गया है। जिसे प्यार करना हो तो फौरन मोबाइल ले लो। या मोबाइल ले ले तो प्यार की रजिस्ट्रेशन-बुकिंग अपने आप हो जाएगी। अब आदमी प्यार कर बैठे और बाद में मोबाइल होने की वजह से संदेश ने भेज सके तो हो गया न प्यार का गुड़ गोबर। दिन में दस बार 'आई लव यू' करना है तो हर बार पार्क में या रेस्तराँ में कैसे मिला जा सकता है। ऐसे में यह 'सेल' की काम आता है। दूसरे फोन किसी काम के नहीं। सरकारी विभाग प्रेमिका की कोमल भावनाओं को क्या समझे। मान लो अभी प्यार की इजहार को मूड जगा है और फोन नहीं मिला तो हो गई न प्यार की ऐसी-तैसी। प्यार की कोमल भावना छुई-मुई है। थोड़ी-सी अड़चन या उपेक्षा कैसे बरदाश्त कर सकती हैं यही मोबाइल चाचा गालिब के जमाने में आ जाता तो उस बेचारे को इतनी शेरों-शायरी तो न करती पड़ती। सीधे फोन पर संपर्क साध लेते और दिले नादान की पूरी दास्तां तफसील में बयाँ कर लेते।

अब प्रेमियों को न तो आहें भरने की जरूरत हैं न ही शेरों-शायरी की। अब तो फोन लगाओं और बिना किसी झिझक के प्रपोज कर दो। दो-तीन बार मना कर दे तो हतोत्साहित न हों। लगे रहो। हो सकता है बार-बार फोन पर आ रहे प्रस्ताव से खीजकर ही स्वीकृति दे दे। असली बात काम साधना है। वैसे भी प्यार और जंग में सब ज़ायज होता है।

लोग जल्दी प्यार होने से उसके जल्दी टूटने की बात करते हैं। भैया मोबाइल प्रेम है यानी चलता प्रेम है तो चलते तरीके से ही तो होगा। स्थायित्व, ठहराव में ऊब है। बदलाव में नवीनता है। पुरानी आशिकी बासी कढ़ी है। बासी कढ़ी में उबाल लाना। अब फास्ट फूड का जमाना है। सब कुछ क्विक रेडिमेड। चार जुमले लिखे प्यार के लिए और फुल प्यार तैयार। बस में घंटियाँ बज रही हैं। हर कोई फोन पर व्यस्त है। कोई फोन वाले को फोन पर व्यस्त देखने में व्यस्त है। सूचनाओं का आदान-प्रदान जारी है। मिनट-दर-मिनट खबर दी जा रही है।

‘सेल’ फोन से हम हीनता की ग्रंथि में मुक्त हुए हैं। सभी को साथी मिल गया है। एक-दूसरे से मिलकर बात कम करें फोन पर ज्यादा करें। फोन पर आम बात भी खास लगती है। उसमें करेंट दौड़ जाता है। घर से ठीक-ठीक निकला आदमी ऑफिस पहुँचकर अपने पहुँचने की खबर दे रहा है। सब एकाएक एक-दूसरे के करीब हो गए हैं। मोबाइल हाथ में आते ही प्यार होने लगता है और इसी तरह प्यार होते-होते मोबाइल हाथ में आ जाता है।

मैंने भी मोबाइल खरीदा है। स्विच ऑन किए बैठा हूँ। कोई फोन नहीं आ रहा। बीच-बीच में चैक कर लेता हूँ। कहीं कोई गलत बटन तो नहीं दबा बैठा। मेरे पास ही दो प्रापर्टी डीलर और दो युवा लड़के बैठे हैं। उन्हें थड़ाथड़ फोन आ रहे हैं। दीवाली की शुभकामनाएं आ रही हैं। ठीक है जो हमारा शुभ कर पाए उसे ही तो शुभकामनाएँ दी जानी चाहिए। जो न कुछ दे सके, न फायदा कर सके उसका क्या शुभ और उसकी क्या शुभकामनाएं।

मैंने कुछ दोस्तों को निदेश दिए हैं कि फोन मोबाइल पर ही करना। ऑफिस का फोन ध्यान आकर्षित नहीं करता। मोबाइल फोन ध्यान खींचता है। जब तक मोबाइल दूसरे का ध्यान न बाँटे तब तक फोन का क्या मतलब। जिंदगी में इतना कुछ करना है पर जिंदगी मुई छोटी है। देश का विकास इतनी आसानी से नहीं होता। अपनी और दूसरे की जिंदगी दाँव पर लगनी होती है। व्यस्तता का यह आलम है कि आदमी सड़क पर चलते-चलते फोन कर रहा है। पता नहीं कौन लोग हैं जो कहते हैं भारत अमेरिका का मुकाबला नहीं कर सकता। मोबाइल रखने वाला हर आदमी खुद फोन को टालता है और दूसरे के फोन का इंतजार करता है। अपने हालचाल मोबाइल पर खुद बताने पड़ते हैं पर सरकारी फोन पर एक

दिन में कई बार पूरे सिलसिलेवार फोन से सुने सुनाए जाते हैं। मोबाइल फोन प्यार की शुरुआत करता है तो सरकारी फोन प्यार को परवान चढ़ाता है। पास में लगातार घंटियाँ बज रही हैं। कभी-कभी इतनी घंटियाँ एकसाथ बज जाती हैं कि दूसरे की घंटी अपनी समझ आदमी जेब में हाथ डाल बैठाता है। फिर असलियत समझ खिसिया जाता है। मोबाइल से आदमी ग्लोबल हो गया है। एक-दूसरे से आमने-सामने बात करना अब पिछड़ापन हो गया है। ठीक उसी तरह जैसे कंप्यूटर के बजाय हाथ से लिखना पिछड़ापन हो गया है। मोबाइल से गुजरकर आवाज ज्यादा मधुर हो जाती है। कोई सुंदरी आपके पास बैठकर किसी दूसरे से मोबाइल पर बात कर रही हो तो सचमुच बड़ा अपमान लगता है। हम सशरीर उसके साथ बैठे हैं और वो हवा में बात कर रही हैं। यह तो कोई मनुष्यता नहीं है। सीधे-सीधे तिरस्कार लगता है। चलो हमसे बात न करो पर उपेक्षा भी तो मत करो। कमबख्त मोबाइल न होता तो दो-चार बार नज़र मिलने को कौन रोक सकता था। आगे का आपकी हिम्मत पर निर्भर करता है।

पहले पड़ोसी को टी.वी. ने छीन लिया था। अब मोबाइल ने साथ बैठे आदमी को साथ ही छीन लिया है। जिसे देखो बिज़ी है। कहने का टाइम आता था तब तक सारा उत्साह ठंडा पड़ जाता था। जब जैसे ही प्यार की गर्मी का बुखार चढ़ा फौरन मोबाइल के जरिए कह दिया। मामला टालने से टल जाता है। अच्छा है उसे अभी के अभी तय कर दो। मुँह से कहने की हिम्मत नहीं पड़ती तो मैसेज भेज दो। बने बनाए मैसेज उपलब्ध हैं। प्रेम-पत्र लिखने के लिए पहले बड़ा झंझट था। उसे आदमी अलमारी में शादी के बाद कपड़ों के नीचे छिपा कर रखता था। यह प्रेम-पत्र कपड़े ढूँढ़ते वक्त जरूर मिलते थे जिसे लापरवाही से खोलकर बाद में हीराइन को प्यार करने वाला पति पढ़कर हैरान हो जाता और पतिव्रता समझी जाने वाली बीवी को छोड़ने तक की हद तक नाराज हो जाता था अब तो जितने चाहे प्रेम करो। पकड़े जाने का कोई चक्कर नहीं है। पहले तो एक प्यार से पूरी जिंदगी निकल जाती थी। लेकिन अब तो एक दिन में कई प्यार करने की सुविधा है। मोबाइल का सबसे ज्यादा फायदा ‘भाई’ लोगों को हुआ है। दूसरे को टपकाने का काम मिनट-मिनट में बदलता रहता है। मोबाइल की बड़ी सुविधा है। सारा काम साफ बेदाग।

पता नहीं किन लोगों ने हवा उड़ा दी है कि हम हिंदुस्तानी

तरक्की पसंद नहीं। हम पुरानी सड़ी-गली बातों से चिपके रहना चाहते हैं। मेरी राय है कि अब कोई ऐसी-वैसी बात कहता नजर आए तो उसे मोबाइल कथा के जरिए, अपनी बात साबित करवा सकते हैं। सच तो यह कि हम उस तकनीक तक को हँसी-खुशी और गर्व के साथ गले लगाने को तैयार हो जाते हैं जिसे दूसरों ने नुकसानदेह कहकर अपने से दूर कर लिया है।

आज हमें देखें हमारे यहां हर दूसरे आदमी के पास मोबाइल है। इससे क्या फर्क पड़ता है कि हम उस मोबाइल का इस्तेमाल किन कामों के लिए कर रहे हैं। मोबाइल मोबाइल है। हम चलते हैं तो यह भी चलता है। चूँकि चलने का नाम जिंदगी है इसलिए मोबाइल का नाम जिंदगी है।

मोबाइल के यूँ तो बड़े फायदे हैं पर कुछ फायदे मेरी नजर में आए हैं उन्हें गिना रहा हूँ

-पति-पत्नी का रिश्ता चूँकि जन्म-जन्मांतर का होता है इसलिए मोबाइल के जरिए उनका पल-प्रतिपल का हिसाब बड़ी आसानी से रखा जा सकता है। पत्नी को अपने पति की गतिविधियाँ जानने के लिए उसका पीछा करने के बजाय उसका मोबाइल चैक करते रहना चाहिए।

-जब पति ऑफिस में हो और पत्नी को सब्जी-दाल-चपाती वगैरह के बारे में जानकारी लेनी हो तो मोबाइल की उपयोगिता स्वतः सिद्ध होने लगती है।

-मोबाइल से स्मगलरों का जो फायदा हुआ है उसका तो अंदाजा ही नहीं लगाया जा सकता। मिनट-मिनट की खबर रखनी पड़ती है। मोबाइल ने स्मगलिंग, चोरी-चकारी, खून-खराबे को बड़ा वैज्ञानिक और तार्किक आधार प्रदान किया है।

-एक बार मैंने देखा बस में काफी भीड़ थी और दो सहेलियाँ एक-दूसरे से बात नहीं कर सकती थी लिहाजा दोनों अपने-अपने मोबाइल के जरिए बात की।

-मोबाइल पास होने से हमें एक-दूसरे के पास होने की कतई जरूरत नहीं। आदमी पास-पास हो जाए तो दूरियाँ बढ़ने का खतरा बढ़ता है। मोबाइल ऐसे सारी समस्याएँ हल कर देता है। वह पास आकर भी पास नहीं आने देता।

-मोबाइल हमें हीनता की ग्रंथि से छुटकारा दिलाता है। हर कोई अपने पारिवारिक सदस्य या दोस्त को अपने बारे में मिनट दर मिनट की खबर देता है।

-प्रेमी-प्रेमिका के आत्मीय रिश्तों में मोबाइल ने क्रांतिकारी

परिवर्तन पैदा कर दिया है। इससे प्यार का इजहार करने में आसानी होती है। मोबाइल से बोलते प्रेमी की आँखों के भाव पढ़ने का कोई झंझट नहीं रहता।

जिंदगी मोबाइल है या मोबाइल जिंदगी यह तय करना मुश्किल है। बस मोबाइल है तो जिंदगी है और जिंदगी है तो मोबाइल है। दोनों एक-दूसरे के बिना अधूरे हैं। कुछ अति-व्यस्त टॉयलट में भी मोबाइल ले जाते हैं। टॉयलेट जाने का मतलब जरूरी कामकाज से छुटकारा पाना थोड़े ही होता है। हो सकता है मोबाइल की घंटी से 'प्रेशर' पहले से ज्यादा ठीक हो जाए।

अब आपस में मिल-बैठकर बात करने की किसी के पास दो मिनट की फुरसत नहीं पर वहीं बात मोबाइल पर घंटों कर सकते हैं। किसी को किसी के घर चक्कर नहीं लगाने पड़ते। बस 'मिसकॉल' कर दो। बिना कहे-सुने दूसरा सब कुछ समझ जाएगा। सच तो यह है कि जो काम हमारी पंचवर्षीय योजनाएँ या विकास कार्यक्रम नहीं कर सके थे वे सब इस मोबाइल क्रांति से संपन्न हो गया हैं। अब देश के विकास पर टीका-टिप्पणी करने वालों के मुँह बंद हो जाएँगे। जैसे आज अंदाजा लगाना मुश्किल है कि टी.वी. न होता तो लोग अपना वक्त कैसे बिताते। ठीक उसकी तरफ मोबाइल के आने से एक बात साफ हो गई है कि इससे हर आदमी को अपनी हैसियत का पता चल चुका है। मोची के पास जूते ले जाइए। वह फौरन बना नहीं देगा। आप थोड़ा झिक्झिक करने लगे तो फौरन कह देगा आराम से घर जाँएँ। अपना मोबाइल नंबर आपको लिखने के लिए देते हुए कहेगा कि फोन करके जूते लेने आ जाना।

अब जब हम तक यह मोबाइल पहुँचा तक तक इसका बुखार उतर रहा है। इसके फायदे कम नुकसान ज्यादा नगर जाने लगे थे। जो चीज ज्यादा लोगों के पास आ जाए वह कितनी भी उपयोगी हो सस्ती और बेकार नजर आने लगती हैं। अब जिनके पास मोबाइल नहीं उनका स्टेट्स बढ़ गया है। हमारी तो हर हालत में दुर्गत ही रहनी है। पहले न होने से पिछड़े थे। अब होने से पिछड़े हैं। कोई बताएगा हमारी हालत किस तरह दुरुस्त होगी।



राजेन्द्र सहगल
४०, सिद्धार्थ अपार्टमेंट, नजदीक मियाँवाली नगर,
रोहतक रोड़, नई दिल्ली-११००८७
मोबाइल नं. ९८७३१७०६३२

पांडेय जी की किताबें और उसका लोकार्पण

लालित्य ललित

पांडेय जी एक आम आदमी हैं। बड़ा घर है। बाप दादा के जमाने का बना हुआ घर। बीस कमरे हैं। सबसे ऊपर के फ्लोर पर रहते हैं।

नीचे के बीस कमरे किराए पर चढ़ा रखे हैं। किसी से पाँच हजार किराया आता है तो किसी से दस हजार। यूँ समझ लीजिए पेइंग गेस्ट टाइप है मामला। पड़ोस में कॉलेज है मेडिकल और नॉन मेडिकल। अब सबको तो होस्टल में एडमिशन नहीं मिलता। आजकल उनको दाखिला मिलता है जिसकी पहुँच हो यानि खुले तौर पर समझ लीजिए सिफारिश!

पांडेय जी क्या करते! दिन भर। हिसाब लगाते रहते हैं कि पलटू ने किराया नहीं दिया, उसके पिताजी बोल गए थे, यानी स्वर्ग सिंघार गए पिछले कोरोना में। भाई के सहारे हैं पलटू। अब वह भेजेगा तो किराया चुकाएगा। पांडेय जी दिलदार आदमी हैं, इसलिए सभी किरायदारों में पॉपुलर हैं।

अब मुद्दे की बात पर आए। पांडेय जी को लिखने पढ़ने का बड़ा गहरा शौक है। उनके कमरे में जिसे ड्राइंग रूम कहते हैं। कमरा भरा पड़ा है। हिंदी के साथ भारतीय भाषाओं के लेखकों की किताबों से।

आइये लगे हाथ उनपर भी बात कर लेते हैं।

पांडेय जी का पुश्तैनी घर और वह भी किताबों से भरा हुआ और ऊपर से लिखने का गहरा शौक। अम्मा कसम क्या लिखते हैं! अब क्या बताएं आपको।

कल दगडू पानवाले से बात हो रही थी तो उसने बताया काका क्या जमाना आ गया। जब से ये वायरस फैला तब से लोगों की जिंदगी ही बैठ गई। काम धंधे चौपट हो गए। गांव के जो लड़के शहर गए थे, कुछ कमाने को वे भी लौटने लगे। जिंदगी बेदम हो गई। किसी को कुछ नहीं सूझ रहा।

आप बताइए क्या होगा!

पांडेय जी ने गहरी सांस लेते हुए कहा कि सुन बे लौंडे एक तो मैं पंडित नहीं हूँ कि सबका भाग्य बाँचता फिरू। आई बात समझ में। सबके साथ ही उनका भाग्य लिखा होता है। और कोई ऐसा बना नहीं कि वह बचा ही रहेगा। जो आया है वह जाएगा भी। कुछ पहले चले जाते हैं और कुछ बाद में। जाना अटल है। इस बात को मान लो।

अच्छा काका ये बताओ कि चाय हो ली!

हाँ, दगडू हो ली और वह भी कई बार। क्या चाय पीयेगा!

हाँ काका, मन ने कहा कि काका के यहाँ एक नम्बर की चाय बनती है, खालिस दूध वाली। वैसे भी आपकी गांव में तूती बोलती है।

पांडेय जी उर्फ काका भीतर से बहुत खुश हुए और चिलमन को चाय बनाने के लिए कह दिया कि बेटे सुन मैथी के पराठे भी बनवा लाइयो।

दगडू ने कहा कि काका केवल चाय बनवाना। पराठे नहीं।

बेटा दगडू तेरे लिए नहीं कहा। न बच्चों को घी का चुपड़ा नहीं खाना चाहिए। ये मैंने अपने लिए बनवाये हैं। समझा। सारा दिन काम करता हूँ ये नहीं कि तेरी मेरी चाय पीता रहूँ। ये तमाचा काका ने दगडू पे मारा था। दगडू समझ गया, बोला कुछ नहीं। अन्तर्मन ने कहा कि यह तो वही बात हुई, उन उम्मीदवारों सरीखी जो आज इस पार्टी में थे, कल फलानी में गए और फलानी से यहाँ आये और यहां वाले वहाँ ट्रांसफर हुए। ये तो सदियों से चला आ रहा है।

दगडू ने चाय पी और कुछ महल्ले की बातें बताई और निकल लिया। उसे मालूम था कि काका के यहाँ ज्यादा देर बैठना भद्दा पिटवाना होगा।

काका उर्फ विलायती राम पांडेय ने स्थानीय साहित्यकार चिंगपोकली शर्मा से बात करने के लिए मोबाइल तलाशा। कुर्ते में मिला नहीं। आवाज लगाई ओ चिलमन

फोन रखा होगा टेबल पर,ले आना।

चिलमन ने देर लगा दी।काका ने दहाड़ मारी तब जाकर सुनीं।चिलमन ने कहा कि आज अस्पताल जाऊंगा।कान में मेल घुस गया है।कोई दवाई लाऊंगा, तब काम चलेगा।काका ने मजे लेते हुए कहा कि गर्म तेल मत डाल लियो कभी इनसे भी जाता रहेगा।चिलमन ने कहा कि काका पागल हूँ पर इतना भी नहीं।

काका मुस्कराए।फोन लगाया।दूसरी तरफ से साहित्यकार चिंगपोकली शर्मा ने कहा कि पांडेय जी नमस्कार।अभी एक बैठक में हूँ।फुरसत लगते ही बात करता हूँ।

ठीक है शर्मा जी।इंतजार रहेगा।आ जाओगे तो दोपहर का खाना साथ खाएंगे।शर्मा जी ने हामी भरी और पांडेय जी दोपहर का इंतजार करने लगे।उन्होंने चिलमन से कहा कि दोपहर में शर्मा जी खाना साथ करेंगे।कुछ बढ़िया सा बना लो।ठीक है काका जी।अचानक से सोया हुआ घर काम में लग गया।

अब बात करते हैं दोपहर की।ठंड है।मीठी टाइप की।कहीं कोई शोर नहीं।अपने खेत की मूली,गोभी और मटर।उसकी तो क्या बताएं!

वास्तव में ताजी सब्जियों की बात ही अलहदा है।कहीं कोई मिलावट नहीं।ताजी सब्जियां मनुष्य को भी तरोताजा कर देती है।

बैठक में कुर्सियां लग गई हैं।हुक्का पानी की व्यवस्था अलग से।कुर्सियों पर गांव के दो चार खास पढ़े लिखे लोग।सामने साहित्यकार शर्मा जी और उनके ठीक सामने इलाके के कद्दावर रसूखदार विलायती राम पांडेय उर्फ काका जी।

पांडेय जी ने बात शुरू की कि शर्मा जी आपको बुलाने का कष्ट इसलिए दिया कि आप समाज के एक महत्वपूर्ण लेखक हैं,जिन्होंने कड़ियों का मार्ग प्रशस्त किया है।मेरे मन में यह विचार आया है कि अभी हाल के दौरान मेरी लिखी किताबें जो प्रकाशित हुई हैं।मैं चाहता हूँ कि उनपर चर्चा हो और कुछ अधिकृत विद्वानों को आमंत्रित किया जाए और उन पुस्तकों पर बातचीत हो।

शर्मा जी ने कहा कि वाह! यह तो सही विचार

है।निश्चित ही इस पर चर्चा गोष्ठी होनी चाहिए।

पांडेय जी ने कहा कि वही बात जो मेरे मन में है इसको साकार करने की जिम्मेदारी आपकी।

चाय और मिठाई के बाद शर्मा जी ने कागज कलम निकाला और कार्यक्रम की रूपरेखा बनानी शुरू की।

पांडेय जी कार्यक्रम तो हो जाएगा,एक नम्बर का।पर अभी कोरोना के कारण गतिविधियों में कहीं रुकावट न आ जाए।पांडेय जी ने कहा कि वह देख लेंगे,वह व्यवस्था भी।गाँव-देहात में कोई ज्यादा प्रॉब्लम नहीं होगी।फिर भी आपका कहना सही है।

अच्छा रूपरेखा बनाओ।सुनो चिलमन बैठक में ठंड कुछ ज्यादा है,ऐसा करो चाय और गर्म दूध की व्यवस्था करो।जी,साहब।

चिंगपोकली शर्मा जी ने पांडेय जी के सामने कुछ लिखा जिसकी बानगी इस प्रकार है:

ग्रामीण साहित्य समिति,डूंगरपुर के द्वारा
चौधरी विलायती राम पांडेय उर्फ काका जी की
नई प्रकाशित पुस्तकों के लोकार्पण समारोह में
आप सभी की उपस्थिति अनिवार्य हैं

मंचस्थ अध्यक्षता: वयोवृद्ध साहित्यकार रामफल
तलरेजा

मुख्य अतिथि: श्रीमती देविका गजोधर,प्रख्यात
समाजसेविका

वक्ता: मास्टर भूप सिंह पुनेठा

वक्ता: तिकड़म सेठ पहाड़िया

वक्ता:रॉकेट सिंह दुहाजू

स्थान:ग्राम पंचायत,बड़ा मौहल्ला,डूंगरपुर

प्रस्तावित रूपरेखा सुन और समझ कर पांडेय जी ने कहा कि कार्यक्रम तो ठीक लग रहा है।वैसे शर्मा जी मैं नहीं समझता हूँ कि किसी किसिम की कोई बाधा आएगी।

चलिए चाय पीजिये,उसके बाद बात करते हैं।

बैठक में चाय और गर्म दूध ने जायका भी बदल दिया और मौसम के मिजाज़ को भी।

पांडेय जी ने कहा शर्मा जी रूपरेखा बढ़िया।इसे शुक्रवार को प्लान में रख लें।सभी को सूचित कर दें।सभी हमारे अतिथि रहेंगे।शुक्रवार को सभी फार्म हाउस में रुक जाएंगे और शनिवार को कार्यक्रम सुबह ११ बजे नाश्ते के बाद रख लें और दोपहर को भोजन के बाद समापन कर देंगे।शर्मा जी ने सहमति दी।

इससे कोरोना के नियमों का पालन भी हो जाएगा और बीस से पच्चीस लोगों को बुला लिया जाएगा।

बात तय हो गई।

देविका गजोधर को पांडेय जी ने स्वयं सूचित कर दिया और बाकी के आमंत्रित अतिथियों के लिए गाड़ियां चालकों के साथ भिजवा दी गई।

ग्राम पंचायत,बड़ा महोल्ला,डूंगरपुर आज चर्चा और रौनक का विषय बना हुआ है।स्थानीय अखबार के लोग और चैनल्स के पत्रकार भी वहाँ मौजूद थे।

विलायती राम पांडेय के नए संग्रहों के लोकार्पण अवसर पर चिलमन ने सभी का आदर सत्कार किया।सभी आमंत्रितों के आगे पानी की बोतल,चाय,मिश्री और इलायची रखी है।

चैनल्स के लोग अपनी जगह पर मुस्तैद है।सभागार खूब अच्छे से सजा हुआ है।

लोकार्पण की किताबें पत्नी में सजी धजी थाल में मौजूद है।मंच के पीछे बैनर लगा है।सुंदर माहौल।

चिंगपोकली शर्मा जी ने माइक सम्भाला और कहा कि आज विश्व हिंदी दिवस है और हमें बड़ी खुशी है कि जमीन से जुड़ा व्यक्ति जो स्थानीय स्तर पर मौजूद है मगर जिसकी दृष्टि राष्ट्रीय और वैश्विक स्तर के मायने रखती है,ऐसे विलायती राम पांडेय उर्फ काका जी का स्वागत है।

मंच पर एक एक करके सभी आमंत्रित अतिथियों को बुला लिया गया।

देविका गजोधर काली साड़ी में बला की खूबसूरत लग रही है।पांडेय की निगाह बार बार वहीं चली जाती।जिसे अन्य लोग नहीं भांप पा रहे,केवल चिलमन को पता है कि काका जी की विशेष कृपादृष्टि देविका गजोधर पर है।

मास्टर भूप सिंह: पुनेठा ने कहा कि यह और

भी सुखद है कि आज के लोकार्पण अवसर पर जिस लेखक की पुस्तकों का लोकार्पण हो रहा है,उसकी एक पुस्तक की भूमिका मैंने लिखी है,और मुझे अच्छा और सुखद लगा कि लेखक की भावनाएं अत्यंत मौलिक हैं और गांव के इस घर में रह रहा कोई व्यक्ति कितना उत्कृष्ट सोच सकता है यह आप इनकी कविताओं को पढ़कर आकलन कर सकते हैं।

अन्य वक्ता तिकड़म सिंह पहाड़िया ने कहा कि लेखक की अंतर्दृष्टि नितांत नैसर्गिक है और मैंने कुछ उलट पुलट कर देखा है कि लेखक ने बड़े मनोयोग से लिखा है और इनकी रचनाओं में हमें दिविक रमेश,हरीश नवल और प्रेम जनमेजय की अंतर्चेतना का भाव परिलक्षित होता है।मैं लेखक को साधुवाद देता हूँ कि अपनी दिनचर्या के अलावा भी काका ने लेखन को समय दिया है।यह संकेत बताता है कि पठनीयता के प्रति भी लगाव और निष्ठा का भाव अभी खत्म नहीं हुआ है।

और तीसरे वक्ता राकेट सिंह दुहाजू ने कहा कि मैं काका की रचनाओं का पुराना मुरीद हूँ।गांव देहात के इलाके में काका का नाम आदर से लिया जाता है और मुझे अभी बताया गया है कि महाराष्ट्र सरकार ने अपने पाठ्यक्रम में इनकी रचनाओं को शामिल किया है और इनकी रचनाओं को स्नातक स्तर पर शामिल किया है।यह साझा करते हुए करतल ध्वनि से सभागार में मौजूद लोगों ने स्वागत किया और ऐसा करते ही न्यूज चैनल्स के कैमरे कवर करने लगे।आखिर उनको भी तो ब्रेकिंग न्यूज चाहिए।

अंत में कार्यक्रम के सन्दर्भ में चिंगपोकली शर्मा ने कहा की कि कार्यक्रम की मुख्य अतिथि को बुलाऊ इससे पहले मैं कुछ कहना चाहता हूँ,यदि मुख्य अतिथि महोदया देविका गजोधर जी की अनुमति हो तो!

देविका ने मुस्कराते हुए कहा कि शर्मा जी,अनुमति है कहिए आप।

शर्मा जी ने कहा कि आज बड़ा ही पावन अवसर है कि एक साथ विलायती राम पांडेय जी की पांच कृतियों को लोकार्पण हो रहा है।मैं अपनी शुभकामनाएं देना चाहता हूँ और आशा करता हूँ कि काका जी इसी तरह लेखन करते रहेंगे।

अब मैं मंचस्थ अतिथियों से निवेदन करूंगा कि वे मुख्य अतिथि के उद्बोधन से पूर्व एक महत्वपूर्ण

औपचारिकता निभा लें।

अब विलायती राम पाण्डेय जी की पुस्तकों का लोकार्पण किया जाएगा।

इन पुस्तकों में शामिल हैं -

पाण्डेय जी के किस्से और उनकी दुनिया

पाण्डेय जी और जिंदगीनामा

पाण्डेय जी और दिल्ली

सफरनामा

जिंदगी तेरे नाम डार्लिंग

सभी ने स्वागत किया और देर तक फोटोग्राफर फोटोस लेते रहें।

अंत में शर्मा जी ने प्रख्यात समाज सेविका देविका गजोधर को आमंत्रित किया गया।

उन्होंने कहा कि आज एक साथ पांच पुस्तकों को आपके बीच विद्वानों ने लोकार्पित किया। अब तक मैं पाण्डेय जी को गंभीरता से नहीं लेती थी, सोचती थी कि ये लिखते हैं और केवल अपने लिए लिखते हैं, पर ऐसा समझना मेरी भूल थीं। मैं दिल से काका को बधाई देती हूँ, कि जानकर अच्छा लगा कि इनकी रचनाएं अब कालेज स्तर पर भी पढ़ाई जाने लगीं हैं।

आज महानगर में आयोजित होने जैसा कार्यक्रम गांव में आयोजित कर इन्होंने न केवल हम सब का मान बढ़ाया बल्कि ग्रामीण संस्कृति से जुड़ने के लिए हमें भी एक मौका दिया, इसलिए विलायती जी का मन से और दिल से आभार। कि एक साथ शानदार पुस्तकों को हमसे जुड़ने का एक अवसर भी दिया। निश्चित ही ये किताबें मेरे निजी पुस्तकालय में रखी जायेगी और हम भी कोशिश करेंगे कि निजी स्तर पर लोगों को पुस्तकों से जुड़ने के लिए किस तरह के प्रयास किये जा सकते हैं।

शर्मा जी ने अब विलायती राम पाण्डेय जी को मंच पर बुलाया।

विलायती राम पाण्डेय जी उर्फ काका जी ने आते ही कहा- मित्रों, मैं अत्यंत साधारण किसिम का आदमी हूँ, गांव-देहात में रहता हूँ और लोगों के जीवन की आम समस्याओं को समझता हूँ और उन्हीं के जीवन से बहुत कुछ सीखने का प्रयास भी करता हूँ।

आज जो मेरी पाँच कृतियाँ आप विद्वानों ने लोकार्पित की उसके लिए अपनी ओर से कृतज्ञता ज्ञापित

करता हूँ कि आपने अपने कीमती समय से कुछ समय मुझे प्रदान किया।

निश्चित ही आपके जो सुझाव आज मिले हैं उनका पालन अपने आगामी लेखन कार्य में अवश्य करूँगा और कोशिश रहेगी कि मेरा लेखन आम जनमानस के बीच अवश्य पहुँचे।

सभी ने काका के प्रति अपना स्नेह प्रकट करते हुए करतल ध्वनि से स्वागत किया।

ग्राम पंचायत की ओर से आमंत्रित सभी अतिथियों को शॉल भेंट किया गया और वापसी में सभी की गाड़ियों में देशी घी के पाँच किलो के डब्बे, घर की बनाई ताजा बर्फी और नमकीन के टोकरी रखी गई ताकि गांव की मिठास और आत्मीयता उनके साथ अवश्य जाएं।

पाण्डेय जी आज इस लोकार्पण समारोह से अत्यंत प्रसन्न थे। अगले दिन के अखबारों में हेडिंग थीं-

विलायती राम पाण्डेय के लेखन में ग्रामीण संस्कृति की खुशबू।

किसी ने यह लिखा कि काका के लेखन में जमीनी एहसास।

विलायती राम पाण्डेय का लेखन वास्तविकता के निकट।

चैनल्स दिखला रहे हैं- विलायती राम पाण्डेय के लेखन में आम आदमी की जिजीविषा और वास्तविकता के दर्शन। चैनल्स में कुछ वक्ताओं के उद्धोदन भी दिखाए गए।

शाम को देविका गजोधर ने कहा कि पाण्डेय जी मैं तो आपकी मुरीद हो गई हूँ। सच पूछिए आपका लेखन दिल में उतर गया। पाण्डेय जी ने कहा कि इतना भी न चढ़ाओ। मैं तो अत्यंत साधारण आदमी हूँ, लिखता हूँ यह मुझे अच्छा लगता है, पर आपने आकर मुझे गरिमा प्रदान की, मैं उम्मीद करता हूँ कि अपना स्नेह भाव बनाये रखेंगी।

देविका ने मुस्कराते हुए कहा कि आमीन।

वैसे पाण्डेय जी आप ने इतना सामान गाड़ी में रखवा दिया। इसकी क्या जरूरत थीं। लगता है इतना देशी घी खाकर जरूर मेरा वजन बढ़ाने का इरादा लगता है।

पाण्डेय जी ने कहा- अरे, देविका जी खाते पीते लोग ही समाज को दिशा देते हैं और मुझ जैसे अल्पबुद्धि को दिशा निर्देश के साथ बेहतर लेखन के टिप्स भी।

अब देविका क्या बोलती!

बस इतना ही कहा कि जल्दी मुलाकात होगी, पर इस बार मेरे फार्म हाउस में।
ठीक है देविका जी। शुभदिवस।

पांडेय जी ने अगले दिन अपने पांचों प्रकाशकों के यहाँ भी देशी घी, मिठाई और नमकीन भिजवा दी और यह कहा कि आप सभी का आभार, कोरोनाकाल न होता तो आप सभी को आमंत्रित किया जाता। फिर कभी जब माहौल ठीक हो जाएगा, तो एक बार अवश्य साथ बैठेंगे।

चिलमन ने कहा कि हमारे काका जी ग़जब के व्यक्ति हैं, हर किसी को याद रखते हैं और सम्मान करते हैं। आज दूंगरपुर में काका के नाम की गूँज है कि निश्चित ही वे बड़े आदमी हैं जो अत्यंत साधारण बनकर हम सबके बीच में रहते हैं। देखो न अखबारों में और टीवी में उनके ही समाचार हैं।

इलाके के जिलाधीश महोदय रामखेलावन ने भी शुभकामनाएं भेजी कि व्यस्तता के चलते आ नहीं पाया। पर निश्चित ही आपका लेखन पाठकों को एक सार्थक दिशा प्रदान करेगा।

पांडेय जी लेटे और एक कविता उनके दिमाग में घूमने लगीं-

सर्दी, पुल और वे बच्चे/
मौसम वाकई ठंडा ही नहीं
अपितु हड्डियों को गलाने सा है
सोचता हूँ
कि इस मौसम में जब कोई बन्द घर के भीतर
भी कांप सकता है
तो वे बच्चे और वे लोग
जो पुलों के नीचे गुजर-बसर करते हैं
लकड़ियाँ जला कर उसके इर्द-गिर्द उसके ताप
से
बचने की और अपनों को बचाने की कोशिश
करते हैं
टेढ़े-मेढ़े लेटे वे क्या सोचते होंगे
कि बचेंगे भी की नहीं
कुछ को रैन बसेरों में जगह मिल जाती हैं
कुछ कंपकपाती ठंड में हमेशा के लिए जिंदगी से
हार मान लेते हैं

कितने आंकड़े हर साल सामने आते हैं
वे एनजीओ और सरकारी संस्थाएं जब एक्टिव
होती हैं जब उन्हें ऊपर से सख्त आदेश मिलता है
सोचिये किसी की मदद करना और उसकी जान
बचाना आज जरूरत है

पर साहब जगह जगह चौराहों पर नेताओं के
हँसते हुए होर्डिंग्स क्या जतलाते हैं
किसी को किसी की कोई परवाह नहीं
लेकिन अभी भी कुछ लोग हैं ऐसे
जो रात में अधनंगे, भूखे और बेसहारा लोगों की
मदद को निकलते हैं और करते भी हैं
सहयोग और इनसब के पीछे उनकी मंशा किसी
भी किसिम की पब्लिसिटी की नहीं होती
न उन्हें कोई प्रचार चाहिए
न ही किसी की शाबाशी!
समाज का चरित्र ऐसे ही मौकों पर सामने आता
है

वाकई में कई बार आदमी कितना खुदगर्ज हो
जाता है
कोशिश करें कि कुछ न कुछ सार्थक पहल हमसे
हो पाए

वह कपड़ों, कम्बल और खाने पीने के पैकेट्स के
जरिये भी हो सकती है
सोचिएगा....

तभी घण्टी बजी। पांडेय जी की तन्द्रा टूटी। किसी
ने कहा कि देखिये एक ट्रेन दुर्घटना हुई है बीकानेर एक्सप्रेस
की जो दक्षिण में जा रही थीं। बारह डिब्बे उतर गए।

पांडेय जी के दूर के मौसा उस यात्रा में शामिल
है। पांडेय जी ने फोन लगाया, पर किसी ने उठाया
नहीं। अचानक से बैचन हो गए। ये नेटवर्क भी न!

चिलमन ने कहा कि काका जी घबराओ मत। मौसा
जी ठीक होंगे। आप चाय पी लीजिये। गर्म बना कर लाया हूँ
और आपकी पसन्द के पकौड़े भी।

ठीक है बेटा। ले आओ चाय।



हिन्दी सिनेमा से गायब होते गांव

चंदन श्रीवास्तव

इस आलेख के दो हिस्से हैं। पहला और प्रमुख हिस्सा इस मान्यता से सहमति जताता है कि मौजूदा भारतीयसिनेमाके कथा-परिवेश से गांवई जिन्दगी का निरूपण लगभग गायब हो चला है। हाल के कुछ समाजशास्त्रीय अध्ययनों तर्क है किगांवअब भारतीय जीवन की मुख्यधारा के लिए निरंतर अप्रासंगिक होते जा रहे हैं(देखें आलेख के नीचे की टिप्पणी)। आलेख इसी मान्यता को भारतीय सिने-परिवेशमें लागू करने की कोशिश है लेकिन इसके लिए किसी खास शोध-अध्ययन का हवाला नादेकर एक प्रसिद्ध सिनेकार के साक्षात्कार की कुछ पंक्तियों का सहारा लियागया है। आलेख का दूसरा और अपेक्षाकृत छोटा हिस्सा स्वतंत्र भारत में बनेकुछ प्रतिनिधि चलचित्रों के उल्लेख के जरिए यह जानने की कोशिश है कि भारतीयसिनेमाके कथा-परिवेश मेंगांवों का चित्रण किस तर्ज पर हुआ है।

‘ मैं फैंसले नहीं देना चाहता लेकिन कहना चाहूंगा कि देहाती दुनिया का अपना आकर्षण अब जाता रहा, इसलिए मनोरंजनी छवि की दुनिया(सिनेमा) में आकांक्षा के स्तर पर भी इसके लिए जगह नहीं रही। अब आपको (फिल्मकार) देहातों में अपने लिए कोई विकल्प नजर नहीं आता औरगांव-देहात हमारी मनोभूमि से विदा हो चुके हैं। भारतीयगांवसिनेमाके मानचित्र से गायब हो गये हैं। यदि आपकोसिनेमामें ग्रामीण भारत देखना है तो यह आपको भोजपुरी भाषा कीसिनेमामें देखेगा या फिर इसे आप श्याम बेनेगल की फिल्म में देख सकते हैं..। ’

मौजूदा भारतीय सिने-पटल से ग्रामीण भारत की विदाई को रेखांकित करनेवाली ये पंक्तियां किसी और की नहीं खुद प्रसिद्ध फिल्मकार श्याम बेनेगल कीहैं। वही श्याम बेनेगल जिन्होंने कभी अंकुर (१९७४), निशांत (१९७५) और मंथन (१९७६) सरीखी फिल्में बनायीं और सन् १९७० के दशक में समानान्तर धारा कीफिल्मों को एक नई गति दी। इन फिल्मों में कथा भले अलग-अलग थी लेकिन भाव औरप्रेरण

के स्तर पर उनमें गहरा जुड़ाव था। तीनों फिल्मों ने भारत केग्रामीण गरीबों के सरोकार को मुखर किया। हैदराबाद के ग्रामीण अंचल में घटितएक सत्यकथा पर आधारित फिल्म अंकुर में दर्शकों ने देखा-गांवोंका सामंती मिजाज कैसे धीरे-धीरे बदल रहा है। फिल्म के अंतिम दृश्य में एकबच्चा जमींदार के शीशमहल पर पत्थर फेंकता है। यह दृश्य मानो मुनादी है किव्यक्ति और उसके अधिकारों के दमन पर टिकी किसी भी पुरानी व्यवस्था केविरुद्ध प्रतिरोध का अंकुर फूट चुका है। निशांत में सामंती मूल्यों सेटकराते नए ग्रामीण भारत की तस्वीर दिखी तो मंथन में सामाजिक-परिवर्तन कानया विहान।

अगर भारतीय सिने-पर्दे से ग्रामीण जिन्दगी की कथाओं के गायब होने कीउपर्युक्त बात सच है तो इसका मतलब हुआ भारतीय राष्ट्रीयता की कथा बुनने औरउसके सपनों में रंग भरने वाले एक विराट् माध्यम(सिनेमा) के भीतर से देश की सत्तर फीसदी आबादी के आस-निरास, आशा-आकांक्षा का गायबहो जाना। यह कुछ ऐसा है, मानो आप जीवित हों मगर आपका नाम-पहचान ना हो, जैसेआप हाशिए पर ढकेल दिए गए हों और एक समानान्तर जीवन जीने को बाध्य होंजिसके होने ना होने से मुख्यधारा के जीवन को कोई फर्क नहीं पड़ता। किसीव्यक्ति का वजूद और इस वजूद की मजबूती या कमजोरी (मतलब व्यक्ति के खुद केबारे में किए गए फैंसलों को मिलने वाला सम्मान और उसे साकार करने के अवसर)इस बात पर निर्भर करती है कि वह किस सीमा तक अपने को सार्वजनिक रूप सेअभिव्यक्त कर पाया। जो बातें व्यक्ति के साथ सच हैं वह एक हद तक समुदाय केसाथ भी। ग्रामीण समुदाय और उसके आस-निरास की अभिव्यक्ति सूचना केसार्वजनिक माध्यमों(जिसमेंसिनेमाभी एक है) मेंजिस सीमा तक होगी उस सीमा तक वह अपने होने की सार्थकता को रेखांकित करपाएगा और उसी सीमा तक उसके सरोकारों पर भी ध्यान जाएगा। भारतीयसिनेमाके पर्दे से देश के ग्रामीण जीवन की कथा के गायब होने का मतलब हुआ देश कीसत्तर फीसदी के सरोकारों का एकबारगी अभिव्यक्ति के

एक सशक्त माध्यम से गायबहो जाना। तो क्या यह हमारी राष्ट्रीय मनोकल्पना से यहगांवों के अस्तित्व की विदाई का ही एक चिह्न है और अगर ऐसा है तो उसके कारण क्या हैं?

यह बात ठीक है कि आज संस्कृति की भाषा पर आर्थिकी की भाषा ने कब्जा जमा लिया है, इसलिए अब भारत मेंगांवों का महत्व ' भारतमाता ग्रामवासिनी ' अथवा ' भारत की आत्मागांवोंमें बसती है ' जैसे जुमले जड़कर देश की उस होनहार नई पीढ़ी को नहीं समझायाजा सकता जो वंदे मातरम् सरीखे नारे को इंग्लिश धुन में गुनगुना कर अपनीपहचान यंगिस्तान के रूप में दर्ज कर-करवा रही है। ध्यान रहे जिस दौर मेंभारत युवाओं का देश मतलब अनौपचारिक तौर पर यंगिस्तान कहलाया वही दौर देशमें सूचना-क्रांति का भी है और सूचना-क्रांति पर टिकना पूरा का पूरा मनोरंजनउद्योग(जिसमेंसिनेमाभी शामिल है) इस यंगिस्तानके सपनों-आकांक्षाओं को ही आकार देने के प्रयास से सर्वाधिक लाभ-कमाऊउद्योगों में एक साबित हुआ है। भारतीयसिनेमाके पर्दे सेगांवों के सरोकार अगर गायब हुए हैं तो देखा जाना चाहिए कि जिस युवा-पीढ़ी के दम पर मनोरंजन उद्योग चल रहा है उसके सपनों मेंगांवकितना है ? कोई भी उद्योग अपने रचे हुए उत्पाद की बिक्री पर टिके होने केकारण अपने उपभोक्ता की आकांक्षाओं की उपेक्षा नहीं कर सकता, मनोरंजन काउद्योग तो और भी नहीं क्योंकि उसकी कामयाबी का रिश्ता सपनों को गढ़ने, उन्हें जगाने-जिलाने और बड़े हद इन सपनों से अपने उपभोक्ता को जोड़े रखनेसे है। जिन युवाओं के दम पर यह देश विज्ञापनों की भाषा में यंगिस्तानकहलाता है उन युवाओं के सपना अब 'लोकल' नहीं 'ग्लोबल' हो चला है। यह पीढ़ीअपने रेलवे स्टेशनों, बस और हवाई अड्डों से लेकर मकान-दुकान, शहर-बाजारसबकुछ को विश्वस्तरीय सुविधाओं से युक्त देखना चाहती है। यह पीढ़ी दिन केआठ घंटे काम और हफ्ते के दो दिन आराम वाले मुहावरे में सोचने वाली पीढ़ीनहीं है। यह पीढ़ी हफ्ते के सातों दिन चौबीसों घंटे काम और उस काम के दौरानही मौज-मजे तलाशती वाली पीढ़ी है। सेल्स-मार्केटिंग की रणनीतियां बनातीया फिर कारपोरेट बोर्ड में फैंसले लेती ट्वेन्टी फोर इन टू सेवेन के फॉरमेटमें रहने और सोचने वाली इस पीढ़ी के बूते भारत की अर्थव्यवस्था मेंसेवा-क्षेत्र का योगदान बीते सालों में आश्चर्यजनक तेजी से बढ़ा है। जाहिए, उसके सपनों का केंद्रगांवनहीं हो सकते, बल्किगांवउसे

अपने सपनों में एक बाधा ही लगेंगे।

लेकिन सीधे-सीधे दोष युवा-पीढ़ी पर ही क्यों मढ़ना? जिस सीमा तकदेश-दशा की नियामक शक्ति राजनीति है उस सीमा तक हमें राजनीति की तरफ भीदेखना चाहिए किगांवउसके सरोकारों के केंद्र मेंहैं तो किस रूप में? राजनीति में सर्वाधिक मुखर सवालों की प्रकृति बदली है। राजनीति अब अपनी पहचान आर्थिकी की भाषा में कर रही है। राजनीतिक दल जनतासे कहते हैं कि हमारे कामकाज की समीक्षा करनी है तो इस आधार पर करोरोटी-कपड़ा-मकान-सेहत-शिक्षा-रोजगार आदि के मोर्चे पर हमने कैसा कामकिया। विकास का मुहावरा देश की राजनीति का सबसे दबंग मुहावरा है। इसनेसंस्कृति के सवालों या कह लें जैसे सवालों को जो हमारी परंपरित जीवन-शैली, इस शैली से उपजने वाले नीतिबोध और आत्म-पहचान से जुड़ते थे, उन्हें पीछेछोड़ दिया है। ऐसे में आज की राजनीतिगांवों कोपुरानी छायावादी रूपकों की भाषा में याद नहीं करती जिसमें भारतमाताग्रामवासिनी हुआ करती थीं, और खेत सिर्फ खेत नहीं हुआ करते थे, राष्ट्रीयमनोकल्पना कहती थी- वे भारतमाता के आँचल हैं- 'खेतों में फैंला है श्यामल, धूल भरा मैला-सा आँचल'। मौजूदा राजनीति भारत के नव-निर्माण के कोण से अपनेमुहावरे गढ़ रही है, इस मुहावरे का प्रचलित रूप 'अतुल्य भारत' या फिर 'शाइनिंग इंडिया' है। भारत के नव-निर्माण के सवाल आजादी के समय भी प्रमुखथे लेकिन उस वक्त इस नव-निर्माण में आत्मनिर्भरता और आत्म-पहचान के स्वरमुखर हुआ करते थे। गांवों के जीवन को भारत कीपहचान से जोड़ा जाता था, नव-स्वतंत्र देश की एकता-अखंडता की चिन्ता के भीतरसे जो नारे निकलते थे उनमें बांधों को 'नए भारत के मंदिर' कहकर याद कियाजाता था और जयकारा लगता था- 'जय जवान- जय किसान'। तब इस देश की राजनीति काप्रमुख सवाल भारत को सुपर पॉवर बनाने का नहीं, स्वावलंबी और अपनीस्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखने का हुआ करता था। देश की राजनीति ने इस सोपानको पार कर लिया है, और अगर उसके भीतर से एक बार फिर से भारत-निर्माण केनारे निकल रहे हैं तो समझा जाना चाहिए कि भारत-निर्माण के इस चरण के सरोकारपहले की तुलना में अलग हैं। अगर पहले माना जाता था कि भारतमातागांवों में रहती है, इसलियेगांवोंका नव-निर्माण एक जरूरी बात है तो अब माना जाने लगा है कि देश की समृद्धिके नए प्रतीक

शहर हैं और भारत शहरों में बनता है। इसी के अनुकूल भारतीयप्रतिष्ठा के कुछ प्रतीक भी बदले हैं। खेतों में हल चलाते किसान या फिरसीमा पर देश की रक्षा कर रहे सैनिक की छवि अगर पहले हमारी मनोकल्पना में भारत-नवनिर्माण के प्रतीक थे तो अब विदेशों में रहकर धन-पद अर्जित करनेवाले वे भारतीय जिन्हें अनिवासी भारतवंशी कहकर हम भारत में निवेश की आशा रखते हैं या फिर बंगलुरु और हैदराबाद जैसे शहरों से निकलकर अमरीका-यूरोप जापहुंचने वाले वे सॉफ्टवेयर इंजीनियर जो अपने हुनर और वेतन से भारत कोडॉलर-समृद्ध बना रहे हैं। ध्यान रहे, पहले हैदराबाद चारमीनार का शहर कहलाताथा अब सायबर सिटी कहलाता है। इसी तरह पहले बंगलुरु बागों और उपवनों केशहरों के रूप में ख्यात था तो आज भारत का सिलिकन वैली कहलाता है, मानों यहबदलाव भारत की बदलती पहचान का वाचक हो। भारत की युवा पीढ़ी और मौजूदाभारतीय राजनीति देश को आर्थिकी की भाषा यानी विकासपरक आंकड़ों के भीतरसोचती है।

ठेठ आर्थिकी की भाषा का सहारा लें तो ग्रामीण भारत के सरोकार पर कभीसार्थक फिल्में बनाने वाले श्याम बेनेगल का यह दर्द ज्यादा बेहतर तरीके सेसमझा जा सकता है कि भारतीयसिनेमाके परिवेश सेगंवई जिन्दगी गायब हो गई है। देश की कुल कार्यशक्ति का ५८ फीसदी हिस्साखेती के कामों में लगा है और ग्रामीण आमदनी में उसका योगदान ५५ फीसदी काहै। बीते कुछ सालों में, जो अपने देश मेंगांवोंसे शहरों की तरफ तेज पलायन के भी साल रहे, खेती का स्त्रीकरण हुआ है। आजग्रामीण इलाकों में महिलाओं की अस्सी फीसदी तादाद खेती के कामों में लगीहै। अगरसिनेमाकी कथा स्त्री-पुरुष के दैनंदिनराग-द्वेष के तारों को लेकर ही बुनी जाती है तो कहा जा सकता है कि भारतीयसिने-पर्दे की कथाएं देश की ज्यादातर कामगार आबादी के सरोकारों से अबविडंबनापूर्ण तरीके से विमुख हैं। भारतीयसिनेमाके नए सरोकारों के बारे में बात करते हुए कुछ समय पहले साऊथ एशियनसिनेमाजर्नल के संपादक ललित मोहन जोशी को दिए गए एक साक्षात्कार में श्यामबेनेगल ने इसका कारण इन शब्दों में बताया था- ' देश की आर्थिक स्थिति कोबदलने वाली नीतियों ने हमारी अर्थव्यवस्था को औसतन ८ - ९ इ फीसदी कीवृद्धि-दर दे रखी है और हमें लगता है कि यह रफ्तार कायम रहेगी। इसका एकमतलब हुआ कि शहरी

भारत की बड़ी बेहतरी हो रही है। मतलब, हम अब बड़े-बड़ेसपने देख सकते हैं। बहुत सारा धन उद्यमियों और व्यवसायियों के हाथ में आरहा है और जिनके पास धन है वे निरंतर धनी हो रहे हैं। जो लोग व्यवसायी हैंया फिर नए उद्योग-धंधे शुरू कर रहे हैं वे खूब पैसे कमा रहे हैं और शिक्षाके बूते या फिर अन्य कारणों से ऐसी स्थिति से लाभ उठा सकने की हालात में जोलोग हैं, उनके लिए पैसा कमाने के अपरिमित अवसर आन जुटे हैं। देश की ऐसीदशा का एक अर्थ यह निकलता है कि अगर आप मध्यवर्गीय पृष्ठभूमि के शिक्षितव्यक्ति हैं या फिर आपने कुछ खास शिक्षा हासिल कर रखी है तो मौजूदा सामाजिकपरिस्थितियां आपको अपना मनचाहा हासिल करने में मदद करेंगी। पहले ये बातेंसंभव नहीं थी लेकिन आज बहुत कुछ संभावनाओं के दायरे में आ चुका है। जल्दीही अपने देश में अमेरिका सहित दुनिया के बाकी देशों से कहीं ज्यादा अरबपतिहोंगे।' और ऐसे माहौल में श्याम बेनेगल को लगता है कि- 'आज का भारतीयसिनेमाशहरी मध्यवर्ग की आकांक्षाओं को अभिव्यक्त कर रहा है। इससिनेमाके केंद्र में है हर तरह की भौतिक समृद्धि या कहें कि एक उभपोक्ता के मनमें फूटने वाली कामनाओं का निरूपण- यानी वह सारा कुछ जो आपको लगता है कि आजखुश होने के लिए जरूरी है।'

आजादीके बाद के दिनों के राजनीतिक मानस पर गौर करें- यह मानस भारत-निर्माण कीचिन्ता से प्रेरित है। पहली पंचवर्षीय योजना में खेती पर जोर दिया और 'डिस्वकवरी ऑव इंडिया' की पंक्तियों का सहारा लें खेतिहर जिंदगी की जगहयानीगांवको 'असली भारत' कहा गया। राजनीति की अपेक्षासिनेमासहित बाकी कला-जगत से भारत-निर्माण के इस दायरे में सहयोगी होने की रही। आजादी के तुरंत बादहिन्दी-सिनेमामेंगांवोंकी कथा चिन्ता के इसी दायरे में आकार लेती है- मिसाल के लिए 'मदरइंडिया'। फिल्म का नाम ही यह सूचित करने के लिए काफी है कि यह फिल्म भारतीयराष्ट्रीयता का आख्यान है और इस आख्यान की घटना-भूमि देश केगांवहैं। यह फिल्म स्त्री की मर्यादा कोगांवकी मर्यादा औरगांवकी मर्यादा को राष्ट्र की मर्यादा के रूप में गढ़ने की कोशिश है। पति केपलायन कर जाने के बावजूद 'मदर इंडिया' की मां जिंदगी के संघर्षों के आगेघुटने नहीं टेकती। उसकी टेक है- 'छोड़ दें सारी दुनिया किसी के लिए- येमुनासिब नहीं आदमी के लिए'। वहगांवके शोषण के बीच

रहते हुए परिश्रम पूर्वक जीवन बिताती है लेकिन गांव नही छोड़ती और आखिर में गांवकी मर्यादा(बेटी) के साथ अनाचार होता देख खुद अपने बेटे पर ही गोली चला देती है। इस फिल्म में गांववास्तविक समस्याओं की संघर्षस्थली(किसान-महाजन संबंध) के रूप में उभरताजरुर है लेकिन फिल्म का अंत इस संघर्ष-रूप पर हावी हो जाता है, फिल्म के आखिर में गांवस्वयं को पूर्ण नैतिक-व्यवस्था की इकाई के रूप में स्थापित करता है।

मदर इंडिया की तुलना में सन् १९५० के दशक की ही फिल्म 'दो बीघा जमीन' भारतीयगांवों की कथा में संघर्ष का एक नया कोण -शहर बनामगांव- जोड़ती है। इस लिहाज से मदर इंडिया में प्रस्तावित कथा को यह फिल्म एक नया आयाम देती है। मदर इंडिया में गांवअगर सामुदायिक नैतिक जीवन की राष्ट्रीय लीलाभूमि के रूप में आया है तो दोबीघा जमीन में एक ऐसी जगह के रूप जहां किसान को अशक्त बनाने वाली कईशक्तियां- मसलन महाजन, कारखानेदार और खेती का मानसून पर निर्भर होना- एक हीसाथ सक्रिय हैं। बारिश के गीत से शुरु होने वाली इस फिल्म में खेती मानसूनके अपेक्षित समय पर ना आने से चौपट होती है। नायक अपने ऊपर लदे कर्जे के बोझ को ना चुका पाने के कारण परिवार को गांवमें छोड़कर शहर जाता है और रिक्शाचालक बनकर उम्मीद पालता है कि इस कमाई से गांवमें रह गए उसके परिवार का भरण-पोषण हो जाएगा और कर्ज भी चुका जाएगा। लेकिन शहर में उसका सामना एक और ही तरह की निर्दयता से होता है, ऐसी निर्दयता जिसमें पढ़ा-लिखा मध्यवर्ग ग्रामीण पृष्ठभूमि के अशिक्षित और शारीरिकपरिश्रम करके जीविका कमाने वाले व्यक्ति के साथ घनघोर उपेक्षा का व्यवहारकरता है। फिल्म इसी क्रम में दर्शक के मन में यह संदेश छोड़ती है कि गरीबकिसान के लिए अब जीने की जगह ना तोगांवरह गया है और ना ही शहर।

दो बीघा जमीन के बरक्स सन् साठ के दशक की फिल्म उपकार को देखा जा सकता है। यह फिल्म अपनी भावभूमि में मदर इंडिया का ही विस्तार है। खेतिहर जीवन और परंपरागत जीवन शैली को महिमामंडित करने वाली यह फिल्म एक तरफ गंवई जीवनको नैतिक व्यवस्था के पालक के रूप में सर्वथा वरेण्य सिद्ध करती है तो दूसरी तरफ शहरी जिंदगी

के एक बड़े हिस्से को सार्वजनिक राष्ट्रीय जीवन में फँसे कदाचार का कारण बताती है। पाकिस्तान से हुए युद्ध के तुरंत बाद के समयमें बनी यह फिल्म जय जवान-जय किसान के नारे का औचित्य सिद्ध करने वाली फिल्म है। फिल्म का मशहूर गीत 'मेरे देश की धरती .. इसी भावना का प्रस्तावक है। फिल्म का नायक अपने जीवन में किसान बने रहने से संतुष्ट है और देश पर आये संकट को उबारने के लिए सीमा का प्रहरी भी बनता है। उपकार फिल्म के नायक(मनोज कुमार) की तुलना में उसका भाई(प्रेम चोपड़ा), जो शहरों में पढ़ा-लिखा और शहरी अदब-कायदों में पला बढ़ा है, सार्वजनिक जीवन में कदाचार करने वाला किरदार है। फिल्म की नायिका, गांवमें आकर मरीजों की सेवा करने वाली डाक्टर के रूप में सदाचार की मूर्ति है और वह सदाचारी नायक को चुनकर अपने लिए एक तरह से गंवई जीवन का ही चुनाव करती है।

सत्तर का दशक की फिल्म खोटे सिक्के(फिरोज खान अभिनीत) और अदालत(अमिताभ बच्चन) भी ग्रामीण जीवन को एक नैतिक और सामंजस्यपूर्ण समाज के रूप में ही चित्रित करते हैं। फिल्म 'खोटे सिक्के' में साहसी मगर लड़ाई के नए अदब-कायदों से अनजान ग्रामीण दो जरायमपेशा लोगों(फिरोज खान और डैनी डेङ्ग जोपा) को डकैतों से अपनी रक्षा के लिए नियुक्त करते हैं। इस फिल्म को कथा के धरातल पर फिल्म शोले का समानधर्मा मान सकते हैं। फिल्म अदालत की मुख्य कथावस्तु गंवई जीवन की नैतिकता और इस नैतिकता को शहरी जीवन जीनेवालों के हाथों से मिलने वाली चुनौती है। बाढ़, सूखे आदि का सामना कर रहा इस फिल्म का नायक मुंबई जाता है। उसे उम्मीद है कि कभी जिन लोगों की जानबचायी थी वे शहरी लोग उसकी मदद करेंगे। मदद मिलती है, वह तरक्की करता है लेकिन एक दिन उसे झूठ-मूठ फंसा दिया जाता है। वह अपनी निर्दोषिता की दुहाई देते रह जाता है और उसे कैद हो जाती है। इस घटना के बाद ही फिल्म का नायक अपने गंवई जीवन की सदाचारिता को त्यागकर बदला लेने के लिए उतारू होता है।

गंवई जिन्दगी परंपरागत, नैसर्गिक, निष्कलुष है- वह खेती, धर्म, संयम, सदाचार, साहस पर टिकी होने के कारण अच्छी है जबकि शहरी जिन्दगी कृत्रिम है, उसमें मशीनों का बोलबाला है- शहर उद्योग-धंधे, लालच-लोभ, षडयंत्र और धर्मविहीनता में जीता है। इस दन्धात्मक ढांचे के

भीतर ढेर सारी फिल्में बनी हैं। मिसाल के लिए विमल राय की 'देवदास' का नायक गंवई परिवेश में भोला-भाला प्रेमी है, शहर में एक शराबी। अमिताभ बच्चन और जया भादुड़ी अभिनीत फिल्म अभिमान का केंद्रीय कथ्य शहरों में आकर व्यवसायिक होने वाली कला बनाम व्यावसायिकता के तकाजे से परे गंवई सादगी के बीच फूटने वाली सुर-साधना के बीच टकराहट का है। बहरहाल सन् सत्तर का दशक श्याम बेनेगल की फिल्मों के जिक्र के बिना अधूरा है। उनकी फिल्में गांवको संघर्ष-स्थली के रूप में चित्रित करती हैं। वहां कदाचार के कारण के रूप में किसी बाहरी तत्व मसलन शहरी व्यक्ति या घटना को नहीं तलाशा जाता। बेनेगल की सत्तर के दशक की फिल्में गंवई जीवन में व्याप्त हिंसा और अनाचारका स्रोत खुद गांव में खोजती हैं- खासकर जमींदारी और जाति-व्यवस्था में। फिल्म निशांत और उसके बहुत बाद की फिल्म मिर्च-मसाला इसी कोटि की हैं।

उदारीकरण के दौर में बनी बहुत कम फिल्में गंवई जिन्दगी को अपना कथ्य बनाती हैं। मिसाल के लिए, इस दौर में बनी आमिर खान अभिनीत फिल्म 'लगान' को लिया जा सकता है। यह फिल्म गांवको अपना कथ्य बनाती जरूर है और इस फिल्म में गांव एक अविभाज्य, सदाचार प्रेरित अस्तित्व के रूप में विदेशी सत्ता से लड़नेके लिए उठ खड़ा होता है लेकिन गौर यह भी करना चाहिए कि जिस दौर में क्रिकेट भारत का सर्वप्रिय खेल बनकर राष्ट्रीय प्रतिष्ठा और विश्वविजयिनी महत्वाकांक्षा का प्रतीक बनता है उसी दौर में लगान सरीखी फिल्म बनती है, जहां विदेशी सत्ता से देशी सत्ता की टकराहट के रूपक क्रिकेट है। यह फिल्म गांवके जीवन के बारे में कहने का आभास देते हुए दरअसल शहरी मध्यवर्ग की फैंटेसी को साकार करती है- इस फैंटेसी का उत्स ग्लोबल होते भारत के मध्यवर्ग के भीतर जगत को जीत लेने की आकांक्षा में है। 'लगान' फिल्म सभ्यताके सिरमौर कहे जाने वाले योरोप-अमेरिका को उन्हीं के खेल में परास्त करनेकी भारतीय मध्यवर्ग की ललक का रूपक है। इसी भावभूमि की फिल्म शाहरुख खान अभिनीत 'स्वदेश' है। यह फिल्म गांवको समस्याओं के एक पुंज के रूप में देखती है- एक ऐसी जगह के रूप में जिसे अपने उद्धारकर्ता का इंतजार है। फिल्म उद्धारकर्ता के रूप में एक अनिवासी भारतीयको पेश करती है। इस फिल्म का अनिवासी भारतवंशी नायक भारत में गुजारे अपने शुरुआती सत्रह सालों को याद करता

है। इन यादों में एक 'कावेरी अम्मा' है, जो तकरीबन उसकी माता सरीखी है। नायक की इस इच्छा से भारत आता है कि कावेरी अम्मा को गांवसे अमेरिका ला सके लेकिन इसी क्रममें उसका सामना एक ऐसी गंवई जिंदगी से होता है- जो अशिक्षा, बाल-विवाह, जाति-भेद और गरीबी के तले कराह रहा है, मगर किसी भी कीमत पर ना तो उद्यम करने के लिए तैयार है और ना ही उसमें अपने को बदलने की इच्छा है। फिल्म का अनिवासी भारतवंशी (एनआरआई) नायक गांवके पिछड़ेपनको दूर करने की कोशिश में हायड्रोइलेक्ट्रिक पावर प्लांट बैठाने की जुगत लगाता है। कथा में अलग मगर भावभूमि में 'स्वदेश' सरीखी एक और फिल्म है- 'वेलडन अब्बा'। फिल्म यह सुझाती हुई लगती है कि अगर गांवों को विकास करना है तो उन्हें 'सूचना के अधिकार' का इस्तेमाल करना चाहिए। 'लगान', 'स्वदेश' और 'वेलडन अब्बा' देश के गांवों को उनके वास्तविक स्वरूप में तलाशने की कोशिशों की रूपज नहीं बल्कि ग्लोबल हो चले भारतीय मध्यवर्ग की आकांक्षाओं में बसने वाले गांव हैं, यानी वह जमीन जिसे विश्व-बाजार की जरूरतों के हिसाब से ढाला जा सके।



(टिप्पणी- सुविधा के लिए इस आलेख में भारतीय सिनेमाशब्द का हर जगह प्रयोग हिन्दी-सिनेमाके रूप में हुआ है। मौजूदा परिवेश में गांवोंके अप्रासंगिक होते जाने को चिह्नित करता एक अध्ययन दीपांकर गुप्ता का है। देखें ईपीडब्ल्यू (१९-२५ फरवरी, २००५) में प्रकाशित उनका - ह्रीदर दइंडियन विलेज- कल्चर एंड एग्रीकल्चर इन रुरल इंडिया- शीर्षक आलेख

सहायक प्राध्यापक,
हिन्दी विभाग(जेपीयू)

अज्ञेय की कहानियों में स्त्री संवेदना

शोभा साव

मानव मन या उसकी चेतना का कोई सीमित दायरा नहीं होता है। हमारे भीतर भी एक संसार है जिसकी अंतहीन सीमायें हैं। इसमें उठने गिरने वाली भावनायें ही उसे अतीत एवं भविष्य से जोड़े रखती हैं। यह एक ऐसी मोतियों की लड़ी है जो स्वयं में अतीत एवं वर्तमान तथा भविष्य को पिरोये रखती है। प्रत्येक मनुष्य चाहे वह स्त्री हो या पुरुष अपने अन्तर्मन की चेतनाएँ सोचएँ द्वन्द्व तथा कसमकस की दुनियाँ में जीता है। अन्तर्द्वन्द्व या अन्तर्विरोध इस आन्तरिक दुनियाँ के केन्द्रीय तत्व हैं।

अज्ञेय की कहानियों में सामाजिक जीवन का यथार्थ अपने इकहरे रूप में न होकर संश्लिष्ट रूप में व्यक्त हुआ है। संश्लिष्टता ही अज्ञेय की कहानियों का वैशिष्ट्य है। अपने प्रारम्भ से ही हिन्दी कहानी की दो स्त्रीय धारा रही हैं। पहली पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन की टकराहटें हैं तो दूसरी व्यक्ति मन की टकराहटें और मंथन। प्रेमचन्द और जयशंकर प्रसाद की कहानियों को क्रमशः इन दो धाराओं की प्रतिनिधि रचनायें कही जा सकती हैं। यद्यपि यह विभाजन स्थूल रूप में किया गया है। षडे घर की बेटीष षडे भाई साहबष षडेगाहष आदि प्रेमचन्द की कहानियाँ यदि पारिवारिक जीवन की समस्याओं को व्यक्त करती हैं तो जयशंकर प्रसाद की पुरस्कारष आकाशदिपष जैसी कहानियाँ स्त्री मन के तीव्र अन्तर्द्वन्द्वों को सामने लाती हैं। संदेह की धारा पुरस्कारष की षधुलिकाष और आकाशदीपष की षम्पाष के कोमल अनुरागात्मक भावनाओं को छिन्न दृ भिन्न कर देती हैं। वक्त के बदलने के साथ दृ साथ साहित्य की प्रवृत्तियाँ भी बदलती हैं। लेकिन प्रेम और घृणा के रूप किसी ना किसी रूप में जीवन और रचना में उपस्थित रहते हैं। अज्ञेय मनोवैज्ञानिक गुत्थियों को अपनी कहानी का विषय बनाकर चरित्र का आलेखन करते हैं।

हिन्दी कथासाहित्य में प्रेमचन्द और प्रसाद के परवर्ती कथाकारों में इन धाराओं की निरन्तरता लक्षित की जा सकती है। यशपाल और जैनेन्द्र की कहानियाँ इसके बेहतर उदाहरण हैं लेकिन हिन्दी कहानी अपने विकास के क्रम में संश्लिष्टता की

ओर बढ़ती गई है। एक ही कहानी में सामाजिक जीवन की गहन समस्या भी है और व्यक्ति मन की गुत्थियाँ भी। साम्प्रदायिक दंगे पर केन्द्रित अज्ञेय की प्शरणदाताष कहानी सामाजिक यथार्थ के साथ दृ साथ व्यक्ति मन के द्वन्द्वों को भी व्यक्त करती है। जबकि प्रोजष या षौग्रीनष कहानी यह दर्शाती है कि परिवेश बदल जाने पर व्यक्ति के स्वभाव में कितना परिवर्तन आ जाता है।

अज्ञेय की कहानियों में मनोविज्ञान विशेष रूप से उभरकर सामने आता है। इनकी कहानियों की अधिकतर समीक्षा मनोविज्ञान के संदर्भ में होती रही है। इनकी कहानियों का विभाजन करते समय भी मनोवैज्ञानिक कहानियों का एक पृथक वर्ग बनाया जाता रहा है और इनको मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के प्रतिनिधि कहानीकार भी कहा गया है। डॉ० भोला भाई पटेल के शब्दों में, शउनकी कहानियों में मनोवैज्ञानिकता दृष्टि विशेष का परिणाम है। वह ओढ़ी हुई नहींए चुनी हुई है। उनकी धारणा ही अपने आप में मनोवैज्ञानिक है। अपनी कहानियों में मन के द्वन्द्वों का आन्तरिक ताना दृ बाना बुनते दृ बुनते अज्ञेय प्रायः दुरुहए दार्शनिक और गहन भी हो गए हैं। ११ अज्ञेय की पहले की कहानियाँ परम्परागत ढंग से लिखी गई हैं लेकिन इनमें विषय की नवीनता अवश्य रहती है। परन्तु इनकी रचनाएँ अक्सर आदर्शपरक और घटना दृ प्रधान थी। इनकी कहानियों में यथार्थता ज्यादा थी यह यथार्थ भी बाह्य ना होकर आन्तरिक मनोवैज्ञानिक यथार्थ है। अज्ञेय की यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि कथा साहित्य को बाह्य यथार्थ से आन्तरिक यथार्थ की ओर प्रेरित करती है। इन्होंने कहीं दृ कहीं मनोवैज्ञानिक प्रतीकों का निर्भीक प्रयोग भी किया है।

अज्ञेय के पूर्व भी हिन्दी कहानियों में मनोविज्ञान का प्रवेश था परन्तु अज्ञेय ही सबसे पहले सजग कलाकार हैंए जो मनोवैज्ञानिक विषयों का ही प्रश्रय नहीं लेते अपितु उसके अनुरूप मनोवैज्ञानिक शैली और प्रतीकों का भी आधार लेते हैं। डॉ० देवराज उपाध्याय ने अज्ञेय की कहानियों को मनोवैज्ञानिकता की निष्कंप लौशर कहकर भी अभिहित

किया है। वहीं डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल अज्ञेय की कहानियों में चरित्र अवतारणा को श्विशुद्ध मनोवैज्ञानिक धरातल पर स्थापित करते हैं। अज्ञेय के पूर्ववर्ती प्रेमचन्द जैसे कहानीकार अथवा अज्ञेय के समकालीन यशपाल जैसे कहानीकार समाजिक यथार्थ की भूमिका में कहानियाँ लिखते हैं। उनका यथार्थ वाह्य यथार्थ है जबकी अज्ञेय आभ्यन्तर यथार्थ की ओर जाते हैं और मनोवैज्ञानिक यथार्थ की कुछ सुन्दर कहानियाँ देते हैं। ये कहानियाँ स्त्री संवेदना तथा मनःस्थिति को रेखांकित करते हैं।

यूँ तो स्त्रियाँ समाज में सबसे ज्यादा उपेक्षित रही हैं लेकिन आधुनिक साहित्य जगत में उन्हीं पर सबसे अधिक लिखा गया है। साहित्य जगत में पुरुष साहित्य में निराशा ही हाथ लगती है। षॉग्रीन या रोजष ष्लीलीबोन की बत्तखेष ष्छूते फूलष ष्पुरुष का भाग्यष ष्पगोड़ा वृक्षष ष्कविप्रियाष आदि कहानियाँ स्त्री मनोभाव तथा उनकी संवेदना को व्यक्त करने में सक्षम सिद्ध हुई हैं।

षॉग्रीनष या रोज कहानी की नायिका मालती अपने वर्तमान जीवन में पूरी तरह से जड़ हो गई है। ष्मुझे देखकरए पहचानकर उसकी मुझायी हुई मुख दृ मुद्रा तनिक से मीठे विस्मय से जागी दृ सी और फीर पूर्ववत् हो गयीष उसकी मनःस्थिति वर्तमान और अतीत से हमारा सामना कराती है। मालती जैसी खिलनदड़ी व्यक्तित्व की लड़की अपने पति महेश्वर के घर में रोज एकरसता और एकाकीपन की जिंदगी जीने को बाध्य है। यह स्थिति एक स्त्री मन के अन्तर्द्वन्द्व को ही व्यक्त करती है। ष्लीलीबोन की बत्तखेष कहानी के अन्तर्गत प्रौढ़ अपरिणीता की कुंठा को उसकी अपनी बत्तखों को मारने की क्रिया में प्रकट किया गया है। वह अपनी जिन्दगी और उस मादा लोमड़ी की जिन्दगी में ज्यादा फर्क महसूस नहीं करती जिसे कैप्टन दयाल ने मार गिरया था। वह लोमड़ी को उस अवस्था में देखकर काँप उठती है कि अनजाने में ही उससे हुए भूल की सजा उस लोमड़ी को भुगतनी पड़ेगी जिस एकाकीपन में वर्षों से वह जी रही थी वही स्थिति उस लोमड़ी के सामने खड़ी थी। यही सोचकर वह लोमड़ी के मौत का कारण बने उन बत्तखों को डाव से काट देती है। ष्छूते फूलष भी ऐसी ही एक अपरिणीताए अस्पृष्ट नारी के बाहर से सफल लेकिन भीतर से एकाकी और शुन्य जीवन का प्रतीकात्मक अंकन है। इस पुरुषशासित समाज में उसने स्वयं को पुरुषों से अछूता तो रखा है लेकिन उसे भी अपने जीवन में एक ऐसे पुरुष की आकांक्षा थी जो उसके जीवन को भर पाये। उसके शब्दहीन आँसु उसमें मन की वास्तविक स्थिति तथा अन्तर्द्वन्द्व ही अज्ञेय की कहानियों की संवेदना को व्यक्त करता है।

इसी क्रम में अज्ञेय की कहानी ष्पुरुष का भाग्यष भी स्त्री मन की संवेदना को व्यक्त करती है। एक तरफ तो प्रतिमा के पति को फाँसी की सजा हो गई है और दूसरी तरफ जेल में जन्में उसके पाँच वर्ष के बालक को उससे अलग किया जा रहा है। वह पत्नी और माँ दोनों ही भूमिका में स्वयं को स्थापित नहीं कर पाती। ष्पगोड़ा वृक्षष और ष्कविप्रियाष कहानियाँ भी स्त्री संवेदना को व्यक्त करती हैं। एक तरफ जहाँ ष्पगोड़ा वृक्षष में सुखदा का अंतिम रूपांतर उस कहानी को प्रणय की एक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक कहानी बनाता है। वहीं दूसरी तरफ ष्कविप्रियाष कहानी प्रणय के सुत्र में बँधे शांता और दिवाकर के बीच चूपचाप चल रहे निरसता की पोल खोलता है। शांता भी मालती की तरह एकांत और नीरस जिन्दगी जीने को बाध्य है। वास्तव में इस तरह की कहानियों के माध्यम से अज्ञेय स्त्री मन के तार को छुकर उनकी संवेदनाओं को झंकृत करने का प्रयास करते हैं और स्वयं को एक मनोवैज्ञानिक कहानीकार के रूप में स्थापित करते हैं।



.....o.....
 १अज्ञेय : एक अध्ययन, सं० भोला भाई पटेल, वाणी प्रकाशन, संस्करण - १९८३, २००२, २००९, २०१२, पृ०- ३०३
 २आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान सं० - डॉ० देवराज उपाध्याय संस्करण - १९५६, पृ० - २०३
 ३-आधुनिक हिन्दी कहानी, सं० - डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, संस्करण - १९६२, पृ० - २३
 ४.अज्ञेय सम्पूर्ण कहानियाँ, राजपाल प्रकाशन, संस्करण दृ २०११, पृ० - २०७

Name: SOBHA SHAW

**Address: 3/12, Kundu Lane,
Belgachia,**

Post: Belgachia,

P.S: Ultadanga

Kolkata - 700037

Contact: 9875324022

Email: sobhashaw2301@gmail.com

गाँवों का विसंगति-बोध यानी 'पिता का शोकगीत'

डॉ. सरोज कुमारी

गांव हमेशा से साहित्य के केंद्र में रहे हैं। भारतीय साहित्य परंपरा में कोई भी युग गांव की अभिव्यक्ति से अछूता नहीं रहा है। हिंदी साहित्य की विभिन्न विधाएं—कविता, कहानी, नाटक आदि में गांवों के विभिन्न रंग बिखरे पड़े हैं। कविगण अपने-अपने जीवनानुभवों को अलग-अलग रूपों में रेखांकित करते रहे हैं। प्रेमचंद के 'प्रेमाश्रम' और 'गोदान' तथा फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आँचल' के बाद श्रीलाल शुक्ल के 'राग दरबारी' में शिवपाल गंज की जो तस्वीर उभर कर सामने आई है उसमें समूचे भारत को देखा जा सकता है। इसी कड़ी में उदय शंकर भट्ट, राही मासूम रजा, रामदरश मिश्र और संजीव आदि बड़े लेखक ग्रामीण जीवन के विभिन्न संघर्षों और समस्याओं को किसी न किसी रूप में अभिव्यक्त करते रहे हैं।

हिंदी कविता गांव की पगडंडियों से निकलकर आधुनिकता के समतल धरातल तक आई है। यह तत्व विचारणीय है कि कविता में गांव पहले किस रूप में आए हैं और आज किस रूप में चित्रित हुए हैं। संभवतः आधुनिक कविता के संबंध में यह बात बहुत ही दावे के साथ कही जा सकती है कि गांव केवल प्राकृतिक सुषमा के प्रतिरूप बनकर प्रकट हुए हैं जिनमें गांवों की समस्याएं प्रायः कम ही दिखाई देती हैं। 'पिता का शोकगीत' चन्द्रदेव यादव की गांव-आधारित कविताओं का दूसरा संग्रह है, जिसका प्रकाशन पिछले साल हुआ। पिता एक ऐसा नाम है जो हमारे होने का आधार है, हमारे दुख-सुख, उन्नति-अवनति, हार-जीत—सबका केंद्र है। कवि को जब पूरा गांव पिता के समान दिखाई देने लगे तब उस भावाभिव्यक्ति की जड़ को ढूँढना किसी के लिए भी मुश्किल हो जाता है। पिछले वर्ष जुलाई में संपन्न 'पिता का शोकगीत' और 'गाँवनामा' के लोकार्पण एवं परिचर्चा में आलोचकों ने कहा था कि इस काव्य-कृति में पिता कोई व्यक्ति नहीं, बल्कि गांव है जिसे

कवि ने विभिन्न शब्द-चित्रों के माध्यम से मानवीकृत किया है। 'पिता का शोकगीत' एक रूपक है किन्तु यह रूपक है— रचनाकार के पितृ-रूप का, सृष्टि-कर्ता का त वह ग्रामीण-सृष्टि का रचनाकार है, लोक के सुख-दुःख का साक्षी है, इसीलिए वह लोक को पितृवत स्नेह करता है त वह उसे अपने पूर्वजों, अपने बच्चों और अपने परिवार की उन्नति-अवनति के साथ-साथ उसकी बदहाली और सांस्कृतिक क्षरण को देखता है।

चन्द्रदेव यादव की इस काव्य कृति का शीर्षक इतना मार्मिक है कि वह पाठक को अनायास ही इसको पढ़ने के लिए मजबूर हो जाता है। यह शीर्षक वर्तमान में भारतीय गाँवों की विडम्बना और विसंगति को बहुत तीखे ढंग से अभिव्यंजित करता है। इस कृति में वर्णित गाँव का परिवेश कवि के अपने आसपास के गाँवों का परिवेश है, लेकिन इसका विस्तार सम्पूर्ण भारत के गाँवों तक हो जाता है त इस तरह कवि ने भारतीय गाँवों की समस्याओं को सहज ढंग से सहज भाषा-शैली में अभिव्यक्त किया है। वास्तव में इन कविताओं के ज़रिये कवि जन से संवाद करता है त ये कविताएँ संवादधर्मी हैं त यह रचना काव्य मनीषियों के लिए ही नहीं, साधारण पाठकों के लिए भी बोधगम्य है। इस रचना के ताने-बाने में मुझे प्रेमचंद की रचनाओं की सुगंध आती है। प्रेमचंद ने भारत की आम जनता की समस्याओं को अपने साहित्य का केंद्र बिंदु बनाया और सामान्य जन की भाषा में अपनी कृतियों की रचना करके समाज के हर उस वर्ग तक पहुंचा दिया जो साहित्य का 'स' और कविता का 'क' भी नहीं जानता था।

इधर मैंने ग्रामीण जीवन को अपनी रचनाओं के केंद्र में रखने वाले अनेक कवियों को पढ़ा, जिनमें अष्टभुजा शुक्ल, देवी प्रसाद मिश्र और मदन कश्यप आदि के नाम शामिल हैं, किंतु 'पिता का शोकगीत' में गांव जिस रूप में

आया है वैसा समकालीन कविता में कम ही दिखाई देता है। इस संग्रह की कविताएं हमारे समय की विसंगतियों, भ्रष्ट राजनीतिक तंत्र, सामाजिक अव्यवस्था के साथ सरकारी योजनाओं का कच्चा चिट्ठा पाठकों के सामने खोल रख देती हैं। कवि ने बहुत ही प्रभावशाली ढंग से सांस्कृतिक क्षरण के कारणों की ओर इशारा किया है। गाँवों में बढ़ती हिंसा, द्वेष, झगड़े कवि के हृदय को तप्त करते हुए दिखाई देते हैं।

‘पिता का शोकगीत’ के ‘निवेदन’ में कवि ने लिखा है—‘शहर में पांव जो आए/ पलट कर गांव ना देखा / यहां बस धूप को देखा / न शीतल छांव को देखा / चलो थोड़ा-सा जी लें हम / सजल सपनीले गाँवों को/ जो हैं बेजान दुख बोझिल/ शुष्क रेतीले गाँवों को त’ ‘निवेदन’ की अंतिम दो पंक्तियों में कवि का दर्द जिस रूप में छलका है वह उनके गाँवों के प्रति गहरे जुड़ाव का प्रतीक है। यदि मैं समकालीन हिंदी कविता का जो परिदृश्य है उसमें मुझे यह काव्य संग्रह आज की कविता के सभी मानदंडों पर खरा उतरता दिखाई देता है। समकालीन कविता के संदर्भ में प्रोफेसर मैनेजर पांडे का कथन है कि ‘केवल नया ही समकालीन नहीं होता, बल्कि जो सार्थक है वही समकालीन है चाहे वह पुराना क्यों ना हो त’ इस तथ्य को मैं इसलिए भी यहाँ उद्धृत कर रही हूँ कि चंद्रदेव जी के इस संग्रह की कविताएं किसी एक कालखंड की कविता नहीं हैं, बल्कि इसमें पिछले २०-२२ वर्षों के लंबे और अलग-अलग जीवनानुभवों के शब्द चित्र हैं। कवि की स्वानुभूति हर एक कविता में उजागर हुई है। समकालीन कविता का अर्थ किसी कालखंड या दौर में व्याप्त स्थितियों और समस्याओं का चित्रण, निरूपण या बयान नहीं, बल्कि इनको ऐतिहासिक अर्थ में समझने और उसके मूल स्रोत तक पहुंचने और निर्णय ले सकने का विवेक अर्जित करना है।

आज की कविता बाजारवाद और उपभोक्ता संस्कृति के मनोवैज्ञानिक दबाव और आम आदमी की विवशता को तार्किक रूप से प्रस्तुत कर रही है। मंगलेश डबराल की एक कविता है ‘आज भी एक जगह है’ जिस तरह दिखता है वह उस तरह नहीं होता/ यह बाजार का एक ठोस आध्यात्मिक आधार है/ इसलिए चमत्कारों का उत्पादन सबसे बड़ा व्यापार है /आर्थिक उदारीकरण के नाम पर

बहुराष्ट्रीय कंपनियां लगातार हमला कर रही हैं। दुनिया डिजिटल संस्कृति में घिरती जा रही है। बाजारवाद, विज्ञान, तकनीक का प्रभाव समकालीन कविता पर भी पड़ा है। लीलाधर जगूड़ी की एक कविता का अंश मैं यहां प्रस्तुत करना चाहती हूँ त कविता का शीर्षक है ‘ईश्वर की अध्यक्षता में’ त

जो है उसे बेचते जाओ/ नया खरीदो का पाठ सिखाया जा रहा है/ नया वाहन जरूरी वाहन बताया जा रहा है / जिसके लिए दिखाए गए हैं कुछ आप पारिवारिक स्त्रियों के विशिष्ट वक्ष/ कोई नहीं बताता कि धरती के थन कितने सूख गए हैं त

चंद्रदेव यादव की कविता ‘कैलेंडर’ इसी उपभोक्तावादी संस्कृति और बाजारवाद को सीधे-सीधे सामने लाती है। कविता का एक अंश देखिए -

बरसों बाद खदेरन के पोते ने/ किसिम किसिम के कैलेंडर लाकर टांग दिए हैं दालान में

खदेरन ने पूछा तो बताया कि / कैलेंडर से कंपनियां और बड़े-बड़े दुकानदार

अपने नाम और माल का प्रचार करते हैं / उसने पढ़ना शुरू किया—

ई गणेश लक्ष्मी वाली फोटो पर लिक्खा है भगवती जालिम सीमेंट वर्क्स चुनार

हलाहल पीते शिव शंकर वाली फोटो पर लिक्खा है
....

ई गाय बछड़ा के संग बालकृष्ण वाली फोटो पर लिक्खा है / गोकुल शुद्ध देसी घी दालमंडी

यह कविता समकालीन उपभोक्तावादी संस्कृति का सच्चा चित्र है त इसमें कवि ने कैलेंडर के माध्यम से कंपनियों द्वारा किए जाने वाले अपने उत्पाद के प्रचार-प्रसार के तरीकों पर बेहद रोचक भाषा और शैली के माध्यम से प्रकाश डाला है।

गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी जैसी त्रासद स्थितियाँ साधारण मानव समाज का हमेशा से हिस्सा रही हैं। राजनीतिक व्यवस्था ही इसकी दोषी है। हम जिन्हें संसद में भेजते हैं वे अपने कर्तव्यों को भूल जाते हैं। आज की कविता बाह्य अंतर्विरोधों का ही नहीं, बल्कि भीतरी अंतर्विरोधों की भी पड़ताल करती है। समकालीन कविता ‘जो हो रहा है’ या ‘जो होना चाहिए’—इन दोनों बिंदुओं पर

पूरी तरह से अपना विचार रखती है। गोरख पांडे की कविता है-करने को तो हम क्रांति भी कर सकते हैं /अगर सरकार कमजोर हो और जनता समझदार/ लेकिन हम समझते हैं कि हम कुछ नहीं कर सकते/ हम क्यों नहीं कुछ कर सकते/ यह भी हम समझते हैं त

राजनीतिक अव्यवस्था और सामाजिक शिथिलता का प्रतिरूप यह कविता कम शब्दों में ही सरकार और प्रशासन पर सीधे-सीधे प्रहार करती है। चन्द्रदेव यादव की एक कविता है 'होर्डिंग के चेहरे' त होर्डिंग हमारे घर से लेकर जहां-जहां हम जाते हैं जिधर-जिधर से जाते हैं हमारा पीछा करते हुए नजर आते हैं। हर खासो-आम की नजर उन पर पड़ती है और तुरंत हट जाती है। चन्द्रदेव यादव की यह कविता समकालीन सरकारी अव्यवस्था और चुनावी उत्सव पर करारा व्यंग्य करती है।

होर्डिंग के बीच में होता है बड़ा-सा चेहरा/ पार्श्व विधायक या सांसद का

मेयर से लेकर मुख्यमंत्री का /और दाएं बाएं होते हैं नवोदित चेहरे /दरबार की पाठशाला के

अपनी औकात के हिसाब से / होर्डिंग में जगह घेरे हुए नए चेहरे झांकते हैं।

कवि यादव ने इस कविता के द्वारा चुनाव के समय या उसके बाद होर्डिंगों में कुकरमुत्तों की तरह उगने वाले चेहरों की हकीकत को बयान किया है। चुनाव के बाद इनके उसूल न जाने किस आंधी में उड़ जाते हैं कि अगले पाँच वर्षों तक आम जनता की आंखों से ओझल ही रहते हैं।

समकालीन कविता की तीसरी महत्वपूर्ण कड़ी है लोक। समकालीन कविता लोकस्पर्शी है त लोक जीवन में जो संस्कार हैं, रीति-रिवाज और परंपराएं हैं, उनसे आज के कवियों के जुड़ने और उन्हें जीवित रखने की कोशिश साफ दिखाई देती है। बोधिसत्व, एकांत श्रीवास्तव, प्रेम रंजन अनिमेष, कुमार अंबुज जैसे महत्वपूर्ण कवि लोक को अपनी कविताओं के माध्यम से सजीव रखने का भरसक प्रयास करते रहे हैं। चन्द्रदेव यादव की कविता लोक के रंग में रंगी हुई कविता है। उनकी कविताओं में एक देसी रंग है जो उन्हें समकालीन कवियों से बिलकुल अलग करता है। 'पिता का शोकगीत' कविता के पांचवें भाग में वे लिखते हैं-उग आए हैं झाड़ झंखाड़ / उन्नतोदर टिले के

चारों ओर/ जिसके पास में बैठती थी गोंठ जिउतिया की / यहीं आती थीं औरतें / चढ़ाने के लिए दूध और खील / नाग बाबा को / गीतों और किस्सों से मोहर की तरह चमक उठता था गांव का चेहरा /असीसता था- दूधो नहाओ पूतो फलो / यह टीला मिट्टी का ढेर नहीं / सिर था गांव का... कवि चन्द्रदेव सांस्कृतिक मूल्यों की ओर सीधे-सीधे इशारा करते हुए इस कविता की अंतिम पंक्ति में जब यह कहते हैं कि 'यह टीला मिट्टी का ढेर नहीं सिर था गांव का' तो उनके हृदय का दर्द अनायास ही झलक उठता है। इस दृष्टि से 'पिता का शोकगीत' एक ऐसा कविता संग्रह है जिसमें कवि ने गांव की बदहाली, अव्यवस्था और सामाजिक मूल्य-भ्रंश को दिया है।

स्त्री विमर्श हमेशा से ही कविता का महत्वपूर्ण विषय रहा है। स्त्री के प्रगतिशील रूप को, २१वीं सदी में स्त्री मुक्ति के प्रश्न को हम लगभग सभी समकालीन कवियों की रचनाओं में देखते रहे हैं, किंतु चन्द्रदेव यादव की कविताओं में हमें स्त्री का एक अलग रूप दिखाई देता है। इस संग्रह की कविता सपना, औरत, गुस्सा और आजादी स्त्री विमर्श का नया पाठ हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं। आजादी कविता में उन्होंने लिखा है-घूँघट में रहने के लिए कहकर प्यार से/ कहा गया स्त्री से जहां तक पहुंचे नजर देख लो पूरी दुनिया / जी भरकर / सर्वत्र तुम्हारा राज है / यहां से वहां तक / बस लपर झपर ना करे आंख और चपर चपर ना करे जबान / काहे से कि अच्छी नहीं होती जरूरत से ज्यादा आजादी त

इस तरह की कविताएं समकालीन कवियों के यहां बराबर देखने को मिलती हैं। देवी प्रसाद मिश्र की एक कविता का अंश है- औरतें यहां नहीं दिखतीं / वे आटे में पिस गई होंगी /या चटनी में पुदीने की तरह महक रही होंगी त

इस कविता में स्त्री का जीवन-संघर्ष का साफ झलकता है। कुछ इसी तरह का वर्णन कुमार अंबुज की कविता 'अनिवार्य स्त्री' में भी मिलता है-अनिवार्य स्त्री ने कभी नहीं जताई हमें अपनी अनिवार्यता / और लगातार अनिवार्य बनी रही / वह हमेशा जानती रही/ हमारे लिए उसकी विकल्पहीन अनिवार्यता/ नम्रता पूर्वक वह जानती रही खुद को / जैसे जानते हैं पहाड़ अपनी ऊंचाई और समुद्र अपनी गहराई / और आकाश अपनी नीलिमा त

इस संग्रह की 'औरत' शीर्षक कविता इसी तरह की है। इस कविता में चन्द्रदेव यादव ने लिखा है-औरत खेत है, खलिहान है / औरत सिंकर है मचान है / औरत स्वप्न नहीं / छलना नहीं / औरत बर्फ का गलना नहीं / औरत बगबगाती भोर है / सेवाती है / औरत कभी ना बुझने वाली दिए की बाती है त इस तरह से कवि चन्द्रदेव यादव की कविताएं समकालीन कविता के साथ ताल मिलाते हुए प्रत्येक परिस्थिति में स्वयं को बहुत ही मजबूती के साथ खड़ा करती हैं। चाहे अरुण कमल, लीलाधर जगूड़ी अथवा आलोक धन्वा की कविताओं में स्त्री विमर्श के जो स्वर सुनाई देते हैं वैसे ही स्वर चन्द्रदेव यादव की कविताओं में भी सुनाई देते हैं। तात्पर्य यह है कि चन्द्रदेव यादव की कविताओं में स्त्री विमर्श एक नई पहल के साथ उपस्थित हुआ है। उनकी दूसरी काव्य कृति 'गाँवनामा' की त्रिपदी छंद में लिखी हुई छोटी-छोटी कविताएं गहरे अर्थ-छवियों की परिचायक हैं। उसमें स्त्री मुक्ति के प्रश्न को वे इस तरह से उठाते हैं-नर-मादा दोनों पूरक हैं / लेकिन नर ने चालाकी की / अपनी प्रभुता उन पर थोपी।

चन्द्रदेव यादव की कविताओं में करुणा जन्य यथार्थ की अभिव्यक्ति हुई है। उनमें लोक का गहरा विन्यास है। इन कविताओं में वर्गीय संरचना की दृष्टि से लोक और लोक संस्कृति का बदला हुआ स्वरूप है। उनकी कविताओं के केंद्र में हैं गाँव की उपेक्षा का दर्द, गाँव से पलायन और आजादी के बाद गाँव की बदहाल स्थिति।

भाषा और शैली की बात करें तो चन्द्रदेव यादव की सहज, सौम्य और लोक भाषा के पुट से संवलित भाषा-शैली पाठकों को इन कविताओं को सहज रूप में समझने के लिए पर्याप्त है। उनकी संवाद शैली कविताओं को जीवंत बनाती है। देशज शब्दों को उन्होंने बहुत बारीकी से इन कविताओं में बुना है त गैर पुरबियों को इस बुनावट थोड़ी असुविधा हो सकती है, किन्तु इससे उनका सौन्दर्य द्विगुणित हो गया है त लगता है उन प्रसंगों को उन देशज शब्दों की सहायता के बिना व्यक्त ही नहीं किया जा सकता है त इस संग्रह की कुछ कविताएं लंबी होने के बाद भी अपनी भाषिक सरसता के कारण बिना किसी विराम के सीधे पढ़ी जा सकती हैं। ये कविताएं विभिन्न भाव धाराओं को समेटे हुए हैं त वे कविता में बदलाव की मांग करती हैं। कविता मनुष्यता की मातृभाषा है। कविता ने हर वक्त

अपने समय को व्यक्त किया है। इन कविताओं की सामाजिक पक्षधरता कवि को उसके समकाल से जोड़ती है। चन्द्रदेव यादव की कविताओं में गाँव के अवदान के प्रति गहरी कृतज्ञता है, गाँव से लगाव-जुड़ाव है त गाँव से पलायन का दुख, बेरोजगारी, भुखमरी, गरीबी और राजनीतिक अव्यवस्था को दर्ज करती उनकी कविताएं उनके व्यापक और गहरे अनुभव का निचोड़ हैं। उनकी कविताओं में व्यंग्य की महीन अनुगूँज भी है। विशिष्ट भाव-बोध और रचनात्मकता के साथ साधारण जन मानस के प्रति गहरी सहानुभूति को बयान करती उनकी कविताएं देसी रंग में रंगी हुई हैं।



संपर्क:

डॉ. सरोज कुमारी
एसोसिएट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
विवेकानंद कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय
ईमेल:

गिलिगडु - बदलते जीवन मूल्य और वृद्ध समाज

डॉ. अंजली जोशी

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कथाकार चित्रा मुद्दल द्वारा लिखा गया उपन्यास 'गिलिगडु' वृद्ध जीवन पर आधारित एक संवेदनशील उपन्यास है। यह उपन्यास १३ दिन की कहानी में चलते दो बुजुर्गों 'बाबू जसवंत सिंह' और 'कर्नल सिन्हा' के जीवन का खाका ही नहीं बताता अपितु वर्तमान समय में बदलते जीवन मूल्यों को भी परिभाषित करता है कि कैसे आज के समय में नौजवान बच्चे अपने बुजुर्गों को अकेला छोड़ देते हैं।

भारतीय संस्कृति और समाज में संबंधों को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। और यही संस्कृति हमें सामाजिक रहन-सहन, आचार-व्यवहार और संस्कार सिखाती है। परिवार लगभग इन्हीं संस्कृति और संस्कारों का अनुसरण करते चलते हैं। परिवार में बुजुर्ग, बहु-बेटे, पोते-पोतियां सभी मिलकर एक आदर्श परिवार का निर्माण करते हैं जिनमें त्याग, प्रेम, आदर-सम्मान सभी कुछ सम्मिलित होता है। परंतु निरंतर आधुनिक होते जा रहे हमारे समाज में संयुक्त परिवार या तो लगभग टूट गए हैं या जहाँ हैं वहाँ बुजुर्गों की स्थिति बद से बदतर होती जा रही है। इस अत्याधुनिक समाज में जीवन मूल्यों की कोई महत्ता ही नहीं रह गई है। प्रत्येक व्यक्ति बस अपने सुख सुविधाओं के पीछे भाग रहा है और ऐसे में संबंधों के लिए स्थान ही नहीं रह पा रहा। अपनी जरूरत के हिसाब से प्रत्येक व्यक्ति संबंध निर्वाह कर रहा है और जब जरूरत खत्म हो जाती है, तो वे संबंध लगभग न के बराबर ही हो जाते हैं, जिन्हें न चाहते हुए भी निभाना पड़ता है जैसे कि 'बाबू जसवंत सिंह' का बेटा 'नरेंद्र' निभा रहा है।

उपन्यास में चित्रा मुद्दल जी ने वृद्धों की समस्याओं को बहुत ही मार्मिकता के साथ प्रस्तुत किया है। लेखिका ने अपने उपन्यास में दो वृद्धों 'सेवानिवृत्त सिविल इंजीनियर बाबू जसवंत सिंह' तथा 'सेवानिवृत्त कर्नल विष्णु नारायण स्वामी' के जीवन को केंद्र में रखा है जिन्हें उन्होंने 'गैर मौजूदगी' का नाम दिया है। 'गिलिगडु' उपन्यास के संदर्भ में डॉक्टर अर्चना मिश्रा लिखती है - 'गिलिगडु उपन्यास में चित्रा जी ने वृद्धों की बेचारगी, संवेदनशीलता और जीवनशैली को विस्तार दिया है। पुस्तक के फ्लैप पर लिखी इबारत भी इस उपन्यास की आधारभूमि की ओर संकेत करती है

। गिलिगडु चित्रा जी का आकार में छोटा परन्तु संवेदनशीलता में कहीं गहरा उपन्यास है। इस उपन्यास में सेनानिवृत्त बुजुर्गों की एक रेखीय कहानी नहीं जीवन के रंग बहु आयामी रूपों में उभर कर आए हैं।'

'गिलिगडु' का शाब्दिक अर्थ है - चिड़ियाँ, लेकिन उपन्यास में लेखिका ने 'गिलिगडु' का प्रयोग उपन्यास के दूसरे बुजुर्ग पात्र 'कर्नल स्वामी' की जुड़वा पोतियों के लिए किया है। उपन्यास की कहानी दो ऐसे बुजुर्गों की है जो कि घर परिवार के होते हुए भी अकेले हैं। हमारे समाज में वृद्धों की मुख्यतः तीन श्रेणियों मानी जाती है। प्रथम - वे जिनका कोई परिवार नहीं है। मजबूरीवश वे अलग रहते हैं, जैसे कि उपन्यास के अंत में आई 'मिसेज श्रीवास्तव'। मिस्टर एंड मिसेज श्रीवास्तव कर्नल स्वामी के पड़ोसी हैं। वे अकेले रहते हैं क्योंकि उनकी कोई औलाद नहीं है, लेकिन कर्नल स्वामी की स्थिति देख उन्हें स्वयं बेऔलाद होने का कोई मलाल नहीं। मिसेज श्रीवास्तव कहती है - 'ऐसी कसाई ओलादों से तो व्यक्ति निपूता भला। हमें इस बात पर कोई गम नहीं कि हमारी अपनी कोई औलाद नहीं।' द्वितीय- उपन्यास के दूसरे पात्र 'कर्नल स्वामी' जिनका अपना भरा पूरा परिवार है। आर्थिक रूप से समर्थित है, फिर भी पत्नी की मृत्यु के बाद अकेले रहने को बाध्य हैं हालांकि यह बात वह किसी के सामने ज़ाहिर नहीं करते। उनकी मौत के बाद उनके पड़ोसी द्वारा इस बात का खुलासा किया जाता है। तथा तृतीय श्रेणी में है 'बाबू जसवंत सिंह' जो कि परिवार में रहते हुए भी अकेले हैं क्योंकि परिवार में अब उनकी कोई उपादेयता नहीं रही।

हमारे समाज में कितनी बड़ी विडंबना है कि जो व्यक्ति जिंदगी भर कमाता है। अपने परिवार का बच्चों का भरण पोषण करता है। वृद्ध हो जाने पर उसे अपने ही घर में अपहृत अपरिचित सा महसूस कराया जाता है। अपने ही घर में अपने बहू-बेटे के डर से वह किसी को एक कप चाय के लिए भी नहीं बोल सकता, जैसे कि बाबू जसवंत सिंह अपने मित्र कर्नल स्वामी को एक कप कॉफी के लिए भी नहीं बुला पाते - 'गेट के निकट पहुँचकर बाबू जसवंत सिंह की इच्छा हुई कि अजनबी को घर चल कर एक कप

कॉफी पीने का न्यौता दे , लेकिन न्यौता देने का साहस नहीं जुटा । इस समय बहुत सुनयना मलय - विलय को स्कूल भेजने की तैयारी में व्यस्त होगी । रसोई के भूगोल से वे सर्वथा अपरिचित हैं कि स्वयं स्वयं आगे बढ़ दोनों के लिए कॉफी बना सके । कानपुर से दिल्ली आए हुए उन्हें अरसा हो गया घर की चौखट में दाखिल होते हुए वे स्वयं को अपरिचितों की भाँति प्रवेश करता हुआ अनुभव करते हैं । कैसे कहेंङ्कः३

बेटे और बहू द्वारा बात- बात पर उपेक्षित होने पर भी उन्हें यह घर कभी अपना लगा ही नहीं । अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद अनमने मन से उन्हें अपने बेटे नरेंद्र के पास दिल्ली आना पड़ा । जबकि वे आना नहीं चाहते थे । पहले भी जब वे आते,जल्दी लौट जाते । दिल्ली- बाबू जसवंत सिंह ने ना कभी आना चाहा,ना आने के बाद कोई दिन गुजरा कि वे चिहुँक - चिहुँककर दिल्ली से उचाट ना हुए हो । पहले जब भी आए, मेहमानों से आए और दो तीन रोज़ की मेहमानी कर नरेंद्र की अम्मा को छोड़ कानपुर लौट गए । '४ दिल्ली आकर उन्हें अपनी पसंद का खाना तक नहीं मिलता । नींबू की चाय के बदले कथई चाय का गिलास पकड़ाती बहू , दलिया के बदले परसों से फ्रिज में रखी बासी दाल के चीले , प्रत्येक ऐसी स्थिति में वे सोचते हैं की 'इच्छा अनिच्छा घरवालों की होती है घर में आकर रहने वालों की नहीं । '५ घर में स्वयं की ऐसी हालत देख वे अपनी तुलना टॉमी से करते हैं । उनका मानना है कि - ' इस घर में एक नहीं दो कुत्ते हैं, एक टॉमी दूसरा अवकाश प्राप्त सिविल इंजीनियर जसवंत सिंह । टॉमी की स्थिति निसंदेह उनकी बनिस्पत मजबूत है । उसकी इच्छा अनिच्छा की परवाह में बिछा रहता है पूरा घर । उनके लिए किसी को बिछे रहना जरूरी नहीं लगता । टॉमी अच्छी नस्ल का कुत्ता है । सोसायटी में उनके घर का रूतबा बढ़ता है । उनके चलते उनका रूतबा कलंकित हुआ है । कलंकित हो कर अक्षत - चंदन क्यों चढ़ाया जाए । '६

जिंदगी भर माता-पिता अपने बच्चों के भविष्य को संवारने में लगे रहते हैं । उनके सपनों को पूरा करने के लिए अपने सपनों की तिलांजलि देते हैं । उनके बेहतर भविष्य के लिए वे अपना वर्तमान नहीं देखते । यही सोचकर कि शायद जब हमारे बच्चे बड़े हो जाएंगे, कामयाब हो जाएंगे । तब उनके सपने, उनकी इच्छाओं को पूरा करेंगे, परन्तु यही बच्चे जब बड़े होकर अपने माँ - बाप की जरूरतों को अनदेखा करते हैं तो वृद्ध माता पिता मन कचोटते रह जाते हैं । बाबू जसवंत सिंह जब से कानपुर से दिल्ली आए हैं , रोज़ नरेंद्र के कुत्ते टॉमी को घुमाने ले जाते हैं , कितनी बार वे टॉमी को घुमाते समय अपनी चप्पलों की वजह से गिर भी गए हैं , कर्नल स्वामी द्वारा जूते पहन कर टॉमी को घुमाने और सुबह की सैर करने की सलाह पर वे सोचते हैं - 'नरेंद्र की नजर भी उनकी

चप्पलों पर पड़ती होगी , यह भी जानता है कि टॉमी जैसे उत्पाती के साथ टहलना कम जोखिम भरा नहीं ग जूते दिलाने की सुध नहीं आई उसे ? आती तो क्या व्यापारियों की बड़ी हड्डी की टीस ओढ़े बैठे रहते । '७

बुढ़ापे में व्यक्ति अकेला,निर्बल, असहाय और पर - निर्भर हो जाता है । बच्चे यह बात भूल जाते हैं कि जो माँ बाप उन्हें बुढ़ापे में अनावश्यक अथवा व्यर्थ लगते हैं , किसी कार्य को करने में असहाय असमर्थ दिखते हैं । उनकी पूरी जवानी,पूरी समर्थता इन बच्चों पर ही खर्च की गई है ष बाबू जसवंत सिंह को बेटे नरेंद्र के घर में बालकनी में रहने के लिए जगह दी गई है क्योंकि फ्लैट में दो ही कमरे हैं । एक नरेंद्र उनकी पत्नी सुनयना तथा दूसरे में बच्चे मलय - विलय है । बच्चों के कमरे में कंप्यूटर आदि कीमती सामान है अतः बाबूजी को बाहर बालकनी को कवर करके रखा जाता है । बाबू जसवंतसिंह सोचते हैं - 'नरेंद्र क्या जाने चौथापन कितना परवश करता है पुरुष को और उनकी परवशता शुरू हो चुकी है । '८ बवासीर के मरीज बाबू जसवंत सिंह कमजोर होने के कारण अपने दैनिक कार्यों के लिए दूसरों पर निर्भर हो गए हैं और यही पर - निर्भरता उन्हें बहु सुनयना द्वारा कटाक्ष सुनने पर मजबूर करती है - 'उनके पायजामे और चट्टी में लगे खून के धब्बे वाशिंग मशीन में नहीं छूटते । उनके बाथरूम में रिन की बट्टी रख दी गई है । कपड़े धोने डालने से पहले वे स्वयं धब्बों को तनिक रगड़ लिया करें । बच्चों के सफेद यूनिफॉर्म इसी लापरवाही के चलते लगभग पीले पड़ रहे । '९

सुबह की सैर में बाबू जसवंत सिंह की मुलाकात कर्नल स्वामी से होती है । अकेलेपन के शिकार बाबू जसवंत सिंह जल्द ही कर्नल स्वामी से घुलमिल जाते हैं । हालांकि कर्नल स्वामी स्वयं अकेले रहते हैं परन्तु बाबू जसवंत सिंह को वे मनगढ़ंत कहानियों के माध्यम से अपने परिवार से रूबरू करवाते हैं जिसमे उनका भरा पूरा परिवार है । बेटे - बहुएं , पोते - पोतियां हैं । परिवार में सभी उनका बहुत ध्यान रखते हैं । जबकि वास्तव में ऐसा कुछ नहीं है । बहु सुनयना द्वारा अपमानित हो जब बाबू जसवंत सिंह कर्नल स्वामी को बताते हैं तो कर्नल स्वामी बाबू जसवंत सिंह को ही समझाते हुए कहते हैं कि -'जीवन मुठभेड़ों से ही जिया जाता है मिस्टर सिंह । '१० परन्तु जसवंत सिंह उनकी तुलना स्वयं से करते हुए सोचते हैं 'कितनी मुठभेड़ कोई झेल सकता है । दरअसल उपेक्षा और लक्षणों के चीरते दर्शों से वे कोसों दूर हैं । कल्पना भी नहीं उस अवमानना की जो बूढ़े पेड़ के तने पर आरी सी चलती है । बेटों , बहुओं , पोते , पोतियों ने हाथो हाथ रखा हुआ है । एक वै है , सपनों में सपना बुनते ही रह गए कि कानपुर वाले घर में उनके पोते - पोतियां हुड़दंग मचाए । दीवारों पर ककहरा लिखें ।

सीखों से हाथ पांव वाले आदमी उकेरे , पेड़ पौधे रचे जिनमें भरा गया रंग बाहर फैल पूरे रंग को छींट दे। खाली हाथ घर में घुसते ही रिसाई बच्चों के फूले गाल उन्हें वापस बाजार दौड़ा दे । '११

कर्मल स्वामी बाबू जसवंत सिंह को अपने घर की कहानियाँ सुना सुनाकर खुश दिखने की कोशिश करते हैं । हालांकि वे एक काल्पनिक आदर्श परिवार को अपने मित्र बाबू जसवंत सिंह के समक्ष प्रस्तुत करते हैं परंतु यही परिवार शायद आज के बुजुर्ग चाहते हैं । कर्मल सिंह अकेले अवश्य है परन्तु जिंदादिल है । भरा पूरा परिवार होने के बावजूद अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद आठ वर्षों से वे अलग रहते हैं । अपनी पोटियों कुमुदनी और कात्यायनी से उनका अगाध प्रेम था, परन्तु बच्चियों के हॉस्टल में रहने पर उन्हें उनसे छिप छिपकर मिलना पड़ता । बाबू जसवंत सिंह बहू-बेटे के व्यवहार से खिन्न हो जब कर्मल स्वामी से मौत के विषय में बात करते हैं तो कर्मल स्वामी उन्मुक्त हंसते हुए कहते हैं 'अब्ल तो वे मौत के बारे में सोचते नहीं हैं। उस पर सोचना उन्हें जरूरी नहीं , आ जाएगी । किसी भी शकल में आ जाएगी । रगड़ेगी हफता , महीना , साल या अचानक झपाटे से उठा लेगी । उठा ले , मगर उन कुछ एक कष्टकर दिनों की कल्पना में रात दिन अधमरे होकर जीना , जिंदगी का मजाक उड़ाना नहीं । सर लिव लाइक शेर , अपनी तरह से , अपनी शर्तों पर । '१२ शायद यही बिंदासपन , यही जिंदादिली उन्हें अकेले रहते हुए भी खुश रहने की , जीने की राह दिखा रही थी । जीने के इसी अंदाज ने रिटायर होने के बाद भी वे इस उम्र में प्रेम की राह पर ढाँगिमा दासल चल पड़े थे 'मैं आजकल अपने जीवन के आखिरी प्रेम में डूबा हूँ । किसी को भनक नहीं लगने दे रहा । '१३ परंतु नियति को शायद यह मंजूर नहीं था। अणिमा दास सी मिलने से पहले ही हार्ट अटैक से उनकी मृत्यु हो गई।

वर्तमान समय में बाजारवाद और उपभोक्तावाद ने बड़ों के साथ बच्चों को भी अपने जाल में फंसा रखा है । बच्चे इस डिजिटल युग में अपने मा - बाप , दादा - दादी , नाना - नानी के साथ बैठने की बजाय कंप्यूटर और मोबाइल में खेलना ज्यादा पसंद करते हैं । दादी - नानी की कहानियों की जगह फिल्मी गानों और फूड संगीत ने ले ली है । बच्चों में भावना नाम की कोई चीज़ नहीं रह गई है । बाबू जसवंत सिंह पोते के जन्मदिन पर पार्टी देना चाहते हैं परन्तु पोते मलय द्वारा यह कहने पर कि उसका प्लान पहले से ही अपने दोस्तों के साथ बाहर जाने का है उनके दिल को गहरी ठेस पहुंचती है । बुजुर्ग मा-बाप अपनी तमाम उम्र अपने बच्चों के भविष्य को संजोने में लगा देते हैं , बच्चों के साथ खेलने का समय जुटा ही नहीं पाते । वे वृद्धावस्था में अपने पोते-पोतियों के साथ खेल कर अपने बच्चों का बचपन दुबारा जीना चाहते हैं ।

हर वृद्ध की तरह बाबू जसवंत सिंह भी यही चाहते हैं कि जो समय वह अपने बेटे नरेंद्र को नहीं दे पाए वह अपने पोतों मलय-विलय के साथ गुजारे परन्तु वर्तमान समय में बच्चों का अधिकांश समय कंप्यूटर पर ही बीतता है क्योंकि - 'कंप्यूटर जो देता है वे देने में वे अक्षम हैं उनके अनुभव अप्रसंगिक हो उठे हैं। ज्ञान सीमित । तार छूटने से जुड़े तो कैसे ? '१३ परन्तु इससे सारी गलती बच्चों की भी नहीं कही जा सकती । वर्तमान समय में माता पिता अपनी व्यस्तताओं में इतने उलझे हैं कि बच्चों के हाथ में मोबाइल , कंप्यूटर देकर अपना काम हल्का करते दिखाई पड़ते हैं । खेलने के नाम पर ब्लॉक्स , पजल दिए जाते हैं । वे स्वयं बच्चों को सीमित रहना सिखाते हैं ऐसे में बच्चों को किसी की जरूरत नहीं वे खुद में ही मस्त रहते हैं । लेखिका लिखती है : - 'बुद्धि विकास की आड़ में बड़ी खूबसूरती से बच्चों को संवेदना क्यों किया जा रहा-इतना कि बच्चे कभी परिवार में न लौट सकें , ना कभी अपना कोई परिवार गढ़ सके । '१४

जीवन के साध्य (बुद्धि) में जब वृद्धों को परिवार की सबसे ज्यादा आवश्यकता होती है तब उन्हें वृद्धाश्रम में भेज दिया जाता है । बेसहारा वृद्धों के लिए वृद्धाश्रम होना उचित है परन्तु अपना घर होते हुए भी बुजुर्ग के प्रति अपनी जिम्मेदारी टालने के लिए उन्हें वृद्धाश्रम में भेजना कहाँ तक उचित है ? वर्तमान दौर प्रतिस्पर्धा का दौर है , प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से आगे जाना चाहता है तबच्चे , युवा अपना भविष्य बनाने के लिए विदेश जाना चाहते हैं तब नरेंद्र भी अमेरिका जाने की सोचता है तब विदेश जाना भविष्य बनाना कोई बुरी बात नहीं है तब प्रत्येक व्यक्ति को अपने बेहतर भविष्य के बारे में सोचने का हक है परन्तु अपने भविष्य को बेहतर बनाने के लिए अपने माँ - बाप को वृद्धाश्रम भेज देना ताकि उन्हें अकेलापन महसूस न हो , क्या यह सही है ? नरेंद्र अपने पिता बाबू जसवंत सिंह को वृद्धाश्रम भेजना चाहता है । बाबू जसवंत सिंह अपनी बेटे को जब अपने साथ हो रहे अपेक्षित व्यवहार की शिकायत करते हैं तो वह स्वयं उन्हें डांटने लगती है । अपने भाई नरेंद्र के समर्थन में वह बोलती है - 'वह यह भी मानते हैं कि उनके स्वभाव में आए परिवर्तन का कारण है अम्मा का अचानक चले जाना । अकेलापन उन्हें खाया जा रहा । मगर भैया के अकेले प्रयत्न से तो अशांति कम नहीं हो सकती । बाबूजी को भी अपनी खोह से बाहर निकलने की जरूरत है । भैया तो यहाँ तक सोच रहे हैं कि जहाँ बाबूजी का मन लगे , वे प्रसन्नचित रहे , उन्हें वहाँ रखा जाए तब उन्होंने पता लगाया है कि नोएडा के सेक्टर ५५ में कोई आनंद निकेतन आश्रम है , क्यों न उनके रहने की व्यवस्था वही कर दी जाए तब उन्हें वहाँ रखने के निर्णय से भैया का अतिरिक्त बोझ बढ़ेगा तब भैया उसे सहर्ष उठाने के लिए तैयार है । '१६ बेटे की

सूचना से बाबू जसवन्तसिंह बहुत आहत होते हैं लनके अनुसार उनकी पुत्री शालू ने यह सब कैसे सुन लिया त उसे अपने भाई को समझाना चाहिए था, प्रतिवाद क्यों नहीं किया ? बाबूजी को अपने साथ अमेरिका क्यों नहीं ले जाते भैया ? कौन सा वे हवाई जहाज से लटक जाते...लाडली बेटा को कहने भर को नहीं कहा गया कि भैया के घर जगह नहीं तो न सही , अपने बाबूजी को वह अपने पास रखेगी...उनकी सेवा को अपना सौभाग्य समझेगी...बाबूजी ने कौन अंतर बरता उन्हें पालने में । '१७ अपने बच्चों के इस व्यवहार ने बाबू जसवंत सिंह की जीने की चाह खत्म कर दी और बहुत तेज बुखार ने उन्हें आ घेरा ।

भारतीय समाज में पिता की वसीयत तथा दाह संस्कार पर पुत्र का अधिकार माना जाता रहा है लेकिन प्रस्तुत उपन्यास में लेखिका चित्रा मुदल मानो इस परंपरा को नकार रही हैं । अपने मित्र कर्नल सिन्हा की मृत्यु के पश्चात बाबू जसवंत सिंह की इच्छा भी दिल्ली में रहने की नहीं होती । वे अपने कानपुर वाले घर में काम करने वाली 'सुनगुनियां' को न केवल अपना उत्तराधिकारी चुनते हैं बल्कि अपनी बाकी की जिंदगी भी उसी के साथ गुजारना चाहते हैं और यहाँ तक कि अपने दाह संस्कार का अधिकार भी सुनिया के बेटे को देते हैं त लेखिका लिखती है - 'बाबू जसवंत सिंह सुनगुनियां से यह भी कहना चाहते हैं कि कानपुर पहुंचते ही अपने परिचित एडवोकेट मुन्ना सिंह कुशवाहा से अविलम्ब मुलाकात करेंगे । उनसे अपनी नई बस वसीयत बनवाएंगे और उसे रजिस्टर करवाएंगे कि कानपुर वाला घर उनकी पैतृक संपत्ति नहीं है , उनकी अर्जित संपत्ति है त उनके ना रहने पर उस घर की एकमात्र अधिकारिणी सुनगुनियां होगी । सुनगुनियां से वह कह कर जाएंगे और उसे अपनी वसीयत में स्पष्ट लिखवा भी देंगे कि सुनगुनियां का पुत्र रामरतन न अभिषेक आसरे ही उनकी कपाल-क्रिया करें । उसे ही वह अपने दाह संस्कार का अधिकार दे रहे हैं । '१८

अंततः हम यह कह सकते हैं कि उपन्यास के दोनों पत्रों बाबू जसवंत सिंह और कर्नल स्वामी की कहानी वर्तमान समय के कई अन्य बुजुर्गों की करुण गाथा कहती है । बुजुर्ग हमारे समाज के बहुमूल्य धरोहर हैं । हमें , हमारे समाज को हमेशा ही उन की जरूरत नहीं है और रहेगी । अगर वे ना हो तो परिवार का, समाज का समुचित विकास लगभग असंभव है । वे उम्र में हमसे जितने बड़े हैं , उनके पास उतने अनुभव हमसे अधिक हैं । माना बढ़ती उम्र के साथ वे शारीरिक रूप से कमजोर हो जाते हैं परन्तु उन्हें बोझ मानना हमारी विकृत मानसिकता को दर्शाता है । कभी कभी किसी बात को लेकर वे हठी अवश्य हो जाते हैं परंतु पूर्ण रूप से गलत नहीं होते । जरूरत है , तो बस दोनों पीढ़ियों के बीच थोड़े से समझौते की

। अतः समाज में बुजुर्गों को अनदेखा करना जितना उनके लिए अनिष्टकारी है उससे कहीं ज्यादा अनिष्टकारी हमारे लिए साबित होगा ।



सन्दर्भ : -

१. चित्रा मुदल के साहित्य में युग चिन्तन -डाक्टर अर्चना मिश्र पृष्ठ-३६
२. गिलिगडु - चित्रा मुदल , सामयिक प्रकाशन ,नई दिल्ली - प्रथम संस्करण २००२ , पृष्ठ -१३८
३. वही - पृष्ठ - १४
४. वही - पृष्ठ - ३६
५. वही - पृष्ठ - ३९
६. वही - पृष्ठ - ९६
७. वही - पृष्ठ - १९
८. वही - पृष्ठ - ५२
९. वही - पृष्ठ - ७१
१०. वही - पृष्ठ - ६१
११. वही - पृष्ठ - ६२
१२. वही - पृष्ठ - ६३
१३. वही - पृष्ठ - ७३
१४. वही - पृष्ठ - ४७
१५. वही - पृष्ठ - ३४
१६. वही - पृष्ठ - ९६ - ९७
१७. वही - पृष्ठ - १०२ - १०३
१८. वही - पृष्ठ - १४४

नई दिल्ली

अपने निज की तलाश करते लोग

प्रताप सहगल के कहानी संग्रह 'मछली-मछली कितना पानी' के संदर्भ में

डॉ तबस्सुम जहां

साहित्य के वर्तमान परिदृश्य में प्रताप सहगल एक बड़ा और समादृत नाम है। उन्होंने साहित्य से जुड़ी लगभग सभी विधाओं में अपनी लेखनी चलाई है। कविता, उपन्यास, कहानियाँ, नाटक, रेडियो नाटक, यात्रा-वृत्तांत और डायरी लेखन आदि। उनके नाटकों का मंचन तो देश भर में समय-समय पर होता ही रहता है। वे असाधारण प्रतिभा के धनी साहित्यकार हैं। कई सम्मानों से अलंकृत।

विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपने के बाद उनकी ग्यारह कहानियाँ उनके कहानी-संग्रह 'मछली मछली कितना पानी' में संकलित हैं, जिसे वाणी प्रकाशन ने प्रकाशित किया है। इसका दूसरा संस्करण पिछले माह निकला है। (इस आलेख का आधार यही कहानियाँ हैं) उनकी यह कहानियाँ आज के समय से सीधा साक्षात्कार करवाती हैं। इन्हें वर्तमान समाज का प्रतिबिंब कहा जा सकता है। पारिवारिक मूल्यों का विघटन, बदलते हुए सामाजिक मूल्य, राजनीतिक एवं धार्मिक विसंगतियों तथा मानवीय व्यवहार इन कहानियों का केन्द्र है।

भारतीय समाज पितृसत्तात्मक समाज है। पिता ही परिवार का मुखिया और परिवार की रीढ़ की हड्डी है। उसी पर सब दायित्व है। परिवार की शाखाओं एवं पत्तों का उत्तरदायित्व मुख्यतः उसी पर होता है। हिन्दी में पिता को आधार बनाकर हम ज्ञानरंजन की 'पिता', ऊषा प्रियंवदा की 'वापसी' का विशेष रूप से उल्लेख कर सकते हैं। इसी संदर्भ में प्रताप सहगल की कहानी 'अंडा' का उल्लेख किया जा सकता है। यह एक मार्मिक कहानी है।

'अंडा' कहानी का पिता मेघराज पहलवान से कंकाल तक होने का सफर तय करता है और अंत में अंडा खाने की एक छोटी सी साध पूरी होते ही दम तोड़ देता है। यह कहानी नए कलेवर और नए मूल्यों की कहानी कही जा सकती है। बेटों, बहुओं की उपेक्षा का शिकार होने के बावजूद उसमें एक जुझारूपन है। अचल संपत्ति का मालिक होने के बावजूद वह भिखारी सा जीवन जीने के लिए अभिशाप्त है।

बेटे उसे सरकारी अस्पताल में दाखिल करवा कर अपने दायित्व से मुक्त होना चाहते हैं। मेघराज के जीवन की सबसे बड़ी विसंगति यही है कि एक पहलवान जैसा जीवन जीने के बाद वह अपनी पसंद का भोजन अंडा खाने के लिए तरस जाता है। अंतिम समय में भी कोई बेटा उसके पास नहीं। केवल दामाद पवन है। वह संवेदनशील व्यक्ति है। वही मेघराज के अंतिम समय में अंडा खाने की उसकी अतृप्त साध पूरी करता है। एक अंडे का नाचना एक ऐसी विसंगत स्थिति से सामना करना है, जिसे हम अपने आसपास रोज़ किसी न किसी रूप में घटित होते हुए देखते हैं

परिवार की विसंगत स्थितियों के बरक्स हम 'एक और कुकुरमुत्ता' कहानी को देखें तो यह धार्मिक पाखंड और विसंगतियों की कहानी है। धर्म के नाम पर बाबा, छद्म गुरु और आडंबर। इस कहानी का नायक प्रियकांत आर्य समाज में दीक्षित होने के बावजूद धर्म के आडंबर को ही अपने भौतिक उत्थान की सीढ़ी बना लेता है। समकालीन परिवेश में प्रताप सहगल की यह कहानी बहुत ही प्रासंगिक तो है ही, सोचने के लिए भी विवश करती है कि आखिर हम और हमारा समाज किस दिशा की ओर जा रहा है। बाबाओं का जाल, धर्म के छद्म आवरण में उनकी आर्थिक एवं दैहिक महत्वाकांक्षाएँ इस कहानी का केन्द्रीय तत्त्व हैं। इसी जाल का हिस्सा बनता है शेखर। वह भी महत्वाकांक्षी है, लेकिन प्रियकांत उसे भी इस्तेमाल करके अपने खेमे से बाहर कर देता है। तभी उसे एहसास होता है कि यह धर्मगुरु वस्तुतः कुकुरमुत्ते हैं। इनसे न छाया मिलेगी, न प्रकाश।

'क्रास रोड्स' कहानी आत्महत्या के संदर्भ में जिजीविषा की कहानी है। कहानी वेंकटरमण की आत्महत्या की सूचना से खुलती है। वर्तमान समय में हम देखते हैं कि व्यक्ति कहता कुछ है, सोचता कुछ और करता कुछ है। वेंकटरमण ऐसा ही एक व्यक्ति है जिसकी आदर्शमूलक बातों और यथार्थमूलक व्यवहार में एक बड़ी फाँक है। यही फाँक

उसकी महत्वाकांक्षा का कारण है और इसी वजह से वह आत्महत्या कर लेता है। नैरेटर का अंतर्द्वंद्व इस कहानी की रीढ़ की हड्डी है। उसका आत्म-विश्लेषण ही उसे आत्महत्या से बचा लेता है और वह जीवन के लिए बेहतर विकल्पों के पक्ष में खड़ा दिखाई देता है। आत्महत्या का दर्शन और आत्महत्या विरोधी दर्शन का विमर्श इस कहानी को एक सशक्त कहानी बनाती है। आत्महत्या के कारण के बारे में पूछे जाने पर जब एक पात्र बताता है कि आत्महत्या की 'वजह तो होगी, पर क्या, कई बार होता है न कि बेवजह ही कुछ या फिर आपको जो वजह लगती है, वह दूसरों को नहीं लगती या बेवजह मे से ही कोई वजह ढूँढने की कोशिश की जाती है'। कथावाचक स्वयं अवसाद की स्थिति जी चुका है और वह वेंकटरमण की आत्महत्या की सूचना से अंदर तक हिला हुआ है। ऐसे में ही उसे जीने के कोई कारण ईजाद करना पड़ता है। बेहतर विकल्प। एक तरह से कहानी आत्महत्या पर जिजीविषा के विजय की कहानी है। क्रास रोड्स बौद्धिकता और संवेदनशीलता को एक साथ बाँधकर स्थितियों का निर्माण करती है। मंजुल भगत की कहानी 'आत्महत्या से पहले' इसी प्रश्न पर अलग तरीके से विचार करती है।

गतिशीलता, भागमभाग और महत्वाकांक्षाओं की इस दुनिया में सुविधाएँ जुटाने के लिए व्यक्ति इस कदर उलझ गया है कि उसके सामने नैतिकताओं से प्रश्न गौण हो गए हैं। 'चलो कहीं घूम लेते हैं' पूरी तरह से एक शहरी कहानी है। इस तरह की घटनाएँ हम दिल्ली, मुंबई, कोलकाता जैसे महानगरों में रोज़ घटित होते देखते हैं। लालबत्ती पर खड़ी लिफ्ट माँगती एक संभ्रात महिला और उसे अपनी कार में लिफ्ट देने वाला नीलेश आपको कहीं आसपास ही मिल जाएंगे। स्त्री का खुला निमंत्रण, नीलेश का अंतर्द्वंद्व, घर बैठी नीलेश की पत्नी सुधा, नीलेश की बेटी के विवाह की बात करने आने वाले लोग आदि घटना-प्रसंग इस कहानी का ताना-बाना हैं। नीलेश के मन में भी कहीं दबी हुई इच्छा है कि वह भी दूसरी औरत का संसर्ग प्राप्त कर सके। लेकिन परिस्थितियाँ और उसके जीवन-मूल्य उसे बरज देते हैं। स्त्री द्वारा बार-बार कार के पीछे-पीछे स्कूटर पर आता हुए पहलवान का भय वस्तुतः प्रतीकात्मक रूप से सामाजिक वर्जनाओं का भय है। यही भय उसे सामाजिक अनैतिकता से बचा लेता है।

'जुगलबंदी' संभवतः लेखक-प्रकाशक के बनते और बनकर छूटते संबंधों की हिन्दी में पहली कहानी है। इस कहानी की स्थितियाँ व्यंग्यात्मक होने के साथ परिहासात्मक भी हैं। नए लेखकों के सामने आने वाली दिक्कतों और प्रकाशक की कलाबाज़ियों का सशक्त चित्रण है यह कहानी।

जब कहानी का नायक मनीष मोहन प्रकाशक रूपसिंह महान के प्रकाशन की गुणवत्ता और अशुद्धियों की बात करता है तो प्रकाशक का तर्क कि इस किताब को पढ़ेगा कौन, पढ़ा लिखा ही तो पढ़ेगा न, वह खुद ही समझ जाएगा कि फलौ सबद यह नहीं, यह है और अनपढ़ तो इसे पढ़ेगा नहीं, तो परेशानी क्या है।' मनीष मोहन अपनी रचनाओं का प्रकाशन और विस्तार तो चाहता है, लेकिन वह अपनी छवि को लेकर भी सतर्क है। प्रकाशक हर तरह से उसे भ्रष्ट करना चाहता है। कुछ समय के लिए मनीष मोहन अनजाना सा हो भी जाता है लेकिन अंततः उसका लेखक उसमें जागता है और शराब का गिलास पीने के बजाए खिड़की से बाहर उड़ेलकर खुले आसमान की ओर देखने लगता है। यही इस कहानी की असली टेक है। भ्रष्ट प्रकाशक का एक लेखक से हारना ही इस कहानी का संदेश माना जा सकता है।

'मैं यह बात मानने के लिए तैयार नहीं कि वह कोई चालू लड़की हो सकती है। मुझे दूर से ही संभ्रात लग रही है' यह संवाद 'टाईमपास' कहानी के नैरेटर का है। एक लड़की का रात में दिल्ली जैसे शहर में सड़क किनारे खड़ा होना एक सामान्य घटना भी हो सकती है लेकिन समाज में उस लड़की के प्रति जो धारणा बनती है, समाज की इसी मनोवृत्ति का सशक्त चित्रण इस कहानी में है। अकेली लड़की देखी और लाईन लगाना शुरू। कहानी का अंत अत्यंत रोचक तरीके से हमारे सामने आता है। जब वह लड़की, जो वस्तुतः एक कालगर्ल ही है और अपने लिए अपना रेट खुद तय करती है। क्या यह भी एक तरह से उस स्त्री का सशक्तीकरण नहीं है, जो अपनी मर्जी से इस पेशे में आती है और अपने कायदे खुद तय करती है। यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसपर अलग-अलग राय हो सकती है। कहानी की रोचकता इस कहानी का सबसे प्रबल पक्ष है।

बाब' एक ऐसे महत्त्वाकांक्षी युवा की कहानी है, जो अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए जी-जान से जुटा रहता है लेकिन अपने लिए सही राह न चुन पाने की स्थिति में तनावग्रस्त हो जाता और अपनी पत्नी पर भी लांछन लगाने से नहीं चूकता - 'बहुत घर हैं इस कंजरी के, वो अब रखे न इसे' जैसे संवाद उसकी निर्दोष पत्नी नीलम को पुरुषवादी सत्ता का शिकार बना देते हैं। बाब की तिकड़मबाज़ी, बाज़ारवाद, मीडिया का प्रपंच आदि के सामने वह अपने को अर्थहीन बनाता जाता है। वस्तुतः यह बाब और कोई नहीं, हम और आपमें से ही बहुत से जन हैं। कहानी के नैरेटर के अंतर्द्वंद्व से कहानी की संवेदना को विस्तार मिलता है।

'मछली मछली कितना पानी' स्त्री-पुरुष के अहं के

टकराहटों और उससे टूटते परिवारों की कहानी है। कहानी का नायक मनोहर और नायिका प्रिया के बीच वर्चस्व की लड़ाई उन्हें पाइंट आफ़ नो रिटर्न पर ले जाती है। अपनी-अपनी स्पेस खोजते नायक और नायिका उसी तरह से अपनी स्पेस नहीं जानते, जिस तरह पानी में तैरती मछलियाँ नहीं जानती कि किसके पास कितनी स्पेस है। क्या यही हमारी नियति नहीं है कि हम अपनी स्पेस नहीं जानते और अधिक से अधिक स्पेस पर अपना प्रभुत्व कायम करने के चक्कर में अपनी असली स्पेस भी खो देते हैं। नासिरा शर्मा का उपन्यास शात्मली और अभिमान फ़िल्म भी पुरुष एवं स्त्री के वर्चस्व की लड़ाई की ही कहानियाँ हैं, लेकिन हर कहानी का परिवेश और उसका ट्रीटमेंट अलग होता है। 'मछली मछली कितना पानी' इस संग्रह की एक सशक्त कहानी है।

'मुक्ति' कहानी को दो प्रकार से देखा जा सकता है। पहला कहानी में स्त्री के रूप-सौंदर्य की अपेक्षा उसके गुणों को प्राथमिकता दी गई है। दूसरा कहानी का नायक कहानी की नायिका मंजरी को उसकी कमियों और उससे जुड़ी पारिवारिक ज़िम्मेदारियों के साथ स्वीकार करता है। इस मायने में यह प्रताप सहगल की अनूठी कहानी है, जहाँ वह मंजरी को उसके मंगोलियन भाई, अंधे पिता और कुबड़ी माँ के साथ न केवल स्वीकार करता है, उन उत्तरदायित्वों का अपनी शक्ति के अनुरूप निर्वहण भी करता है।

'वह आदमी' कहानी एकांत (सालिट्यूड) बनाम अकेलेपन (एलियेशन) की कहानी है। महेश अपनी पत्नी के साथ डलहौज़ी घूमने आता है और वहाँ देखता है कैलाश को। महेश उसे अकेला पाकर हैरान भी है और उसे एकांत में जीता देखकर ईर्ष्यालु भी। वह भी ऐसे ही एकांत में जीना चाहता है लेकिन पत्नी हमेशा साथ होती है। वह नहीं जानता कि एकांत और अकेलेपन में बड़ा फर्क होता है यही फर्क तब खुलता है जब खज्जियार में दोबारा कैलाश से मिलने के बाद महेश के सामने कैलाश की कहानी खुलती है और खुलता है अकेलेपन में जीने का दर्द। कैलाश का यह संवाद - 'जिसे आप एकांत कह रहे हैं न, वो मेरा एकांत नहीं, अकेलापन है' कथाकार ने एक तरह से इस कहानी को अध्यात्म से जोड़ दिया है कि बाह्य और आंतरिक स्थितियाँ अलग-अलग होती हैं।

'सरदार नच्छतर सिंह' पारिवारिक संपत्ति के लिए झगड़ते दो बेटों के बीच पिसते एक पिता की मार्मिक गाथा है। बेटों के झगड़ों में पिसते बाप को न रिश्तेदार बचा पाते हैं, न मोहल्ले वाले। बात जब पुलिस तक पहुँचती है तो वही पिता जो अपने बेटों के आतंक से आजिज़ आ चुका था, बेटों को पुलिस से बचाता है। जैसे अंडा कहानी पारिवारिक मूल्यों के

विघटन की कहानी है, उसी तरह से सरदार नच्छतर सिंह भी। सरदार नच्छतर सिंह अपमानित होने के बाद भी बेटों के लिए मंगलकामना ही करता है।

इतनी कहानियों पर चर्चा करने के बाद प्रताप सहगल के कथा-लेखन के संदर्भ में कुछ सूत्र हाथ लगते हैं। पहला यह कि हर कहानी का कथ्य अलग है और वस्तु भी। यानी कोई भी कहानी दोहराव का शिकार नहीं हुई। दूसरा यह कहानियाँ मूलतः महानगरों की कहानियाँ हैं। महानगरों में जीवने जी रहे लोगों की कहानियाँ हैं। तीसरा इनमें धार्मिक, सामाजिक राजनीतिक एवं पारिवारिक विसंगतियों की ध्वनियाँ सुनाई देती हैं। चौथा कोई भी कहानी उपदेशात्मक नहीं है लेकिन अंत में सोच-विचार के लिए कुछ बिंदु छोड़ जाती है। इस तरह से यह कहानियाँ पाठक के मन में परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू कर देती हैं। पाँचवाँ सभी कहानियों में लेखक अनुपस्थित रहकर भी उपस्थित है। छठा कुछ कहानियों में नैरेटर है और कुछ कहानियाँ अन्य पुरुष में बुनी गई हैं। सातवाँ कथाकार के अनुभव सुचिंतित तरीके से ध्वनित होते हैं और अंतिम बात यह कि प्रताप सहगल की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि कहानियों को एक अलग आयाम देती है।

चर्चित पुस्तक: मछली-मछली कितना पानी, लेखक- प्रताप सहगल प्रकाशक- वाणी प्रकाशन, २१-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२। संस्करण २०२१ मूल्य २९५/- रुपए मात्र



तबस्सुम जहाँ
सुपुत्री- फ़िरासल अली खान
७६-बी, हौज़रानी, मालवीय नगर, नई दिल्ली-११००१७

इक्कीसवीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में ग्रामीण स्त्री

मोहसिना बानो

आज हम इक्कीसवीं सदी के विभिन्न गतिविधियों से रू-ब-रू हैं। परिस्थितियाँ निरंतर बदल रही हैं। आज हमारे मानवीय मूल्य तथा जीवन के प्रति दृष्टिकोण काफी बदल चुके हैं। आर्थिक उदारीकरण, ग्लोबलाइजेशन, संचार क्रांति इत्यादि का प्रबल रूप सामने आया है। वर्तमान समय में मनुष्य के लिए अनेक विकल्प उपलब्ध हैं। इक्कीसवीं सदी में जहाँ आदमी के सामने अनेक प्रकार की विसंगतियाँ हैं, वहीं समस्या के रूप में अनेक सवाल भी उभर रहे हैं। इक्कीसवीं सदी को व्याख्यायित करते हुए पुष्पपाल सिंह ने लिखा है कि “२१वीं शती का परिवेश वस्तुतः दुर्धर्ष है। ‘दुर्धर्ष’ के कोशों में दिए गए अर्थ हैं जिसका पराभव न किया जा सके, जिसे वश में न किया जा सके उग्र प्रबल-ये सभी अर्थ २१ वीं शती और उसके परिवेश को पारिभाषित करते हैं।” १ इस सदी के पहले दशक से वैश्वीकरण का प्रभाव जितने प्रबल रूप में आया, उसको वश में करना कठिन हो गया।

इक्कीसवीं सदी का परिदृश्य कुछ इस तरह का है कि सम्पूर्ण देश में मानव जाति किसी-न-किसी कारण भयभीत है। धार्मिक उन्माद की छाया, जाति का बँटवारा, सत्ता का बदलता रूप, हिंसक बाजार की स्थापना, बाजार और सत्ता के सामने समर्पित समाज की चिन्ताएँ स्पष्ट दिखाई देने लगी हैं। समूचे देश में भूमण्डलीकरण की नीतियों की प्रशंसा हो रही है। धार्मिक सहिष्णुता इतनी बढ़ गई है कि एक धर्म का व्यक्ति दूसरे धर्म को घृणा की दृष्टि से देखने लग गया है। वोटों की कलुषित राजनीति ने इसे और भी गंदा कर दिया है। जाति का दबदबा अर्थात् उसके प्रभाव को अब देखा जा सकता है। ऊँच-नीच की भावना वर्तमान समय में खान-पान के स्तर पर चाहे समाप्त हो रही हो किन्तु विवाह सम्बन्धों में अभी जाति-वर्ण प्रमुख

है। गाँव में कई धर्म, सम्प्रदाय एवं जाति के लोग एक साथ रहे हैं। प्रायः उच्च जातियों में ब्राह्मणों या ठाकुरों की प्रधानता होती है। कहीं किसी गाँव में कायस्थों और वैश्यों की प्रधानता दिखायी पड़ती है। कुछ गाँव मुसलमानों के होते हैं। कुछ जनजातियों के भी होते हैं।

गाँव भारत की संरचना का अभिन्न अंग माना जाता है। गाँव अपने प्रारम्भिक स्वरूप से काफी बदल चुका है। परिवर्तन के फलस्वरूप गाँव में पहले से चली आ व्यवस्था जाति, धर्म, संस्कृति, रीति-रिवाज, वेश-भूषा, खान-पान, जीवन-मूल्य, विचारधारा, उत्पादन पद्धति आदि में बदलाव देखे जा सकते हैं। “औद्योगीकरण, नगरीकरण, प्राकृतिक आपदाएँ, आधुनिकीकरण, सांस्कृतिकरण, शिक्षा इत्यादि ने गाँवों को प्रभावित किया है। ग्रामीण क्षेत्रों के नागरिक जीवन की पुरानी पहचान २१वीं सदी के शुरुआती दौर से ही बदलती गई है। हर तरफ नैतिकता के लोकतांत्रिक व्यवस्था दूषित परिवेश में गाँवों का वातावरण अनैतिकता के शिकंजे में कसता जा रहा है। लोग अपने भविष्य तथा नयी पीढ़ी के डावाँडोल स्थिति से परेशान हैं।” भूमण्डलीकरण के कारण भारत की कृषि व्यवस्था और किसान गहरे संकट में हैं। भूमण्डलीकरण के कारण जिन स्थितियों, त्रासदियों और समस्याओं का सामना ग्रामीण समाज कर रहा है इसका चित्रण लेखकों के बहुत मार्मिक ढंग से किया है। पिछले दो दशक दशक में तीन लाख से ज्यादा किसान खुदकुशी कर चुके हैं। खेती में लगने वाली चीजों के दाम बढ़ते गये हैं और उपज के वाजिब दाम नहीं मिलते हैं। फसल कटने के वक्त भाव खासकर गिर जाते हैं और कटनी के बाद जब अनाज किसानों के हाथ से निकल चुका होता है तो भाव बढ़ जाते हैं।

ग्रामीण स्त्रियों के पारंपरिक सोच में ज्यादा बदलाव

नहीं आया हैं अर्थात् ग्रामीण स्त्री पारंपरिक रीति-रिवाज, त्यौहार, व्रत, संस्कृति को अब तक परंपरागत ढंग से निभा रही है। लेकिन साथ ही साथ वह सजग और भी हो रही है। ग्रामीण समाज में स्त्रियों को उसकी जाति के अनुकूल जीना पड़ता है। उच्च वर्ग की ग्रामीण स्त्री अपनी कुल की मर्यादा बनाये रखने के लिये उन तमाम नियमों का पालन करती हैं जो उसके परम्परागत एवं पुरुषों के द्वारा बनायी गई हो। निम्नवर्ग एवं दलित ग्रामीण स्त्रियाँ तमाम नियमों से परे हैं। वह मुक्त एवं स्वतंत्र हैं। बाहर का काम हो या फिर खेतों का वह अपने पति का सहयोग करती है। “गाँव की स्त्रियाँ शहरी मध्यवर्ग स्त्रियों की तरह अपनी स्वतंत्रता पर विमर्श नहीं करतीं बल्कि स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न और संघर्ष करती हैं।”^३ स्त्रियों के जीवन का संघर्ष सदियों से रहा है और अब तक है।

प्रारम्भ से लेकर अब तक स्त्री को आदर्श पत्नी, आदर्श पुत्री के रूप में देखने की खाहिश रही है। नीरा देसाई, ऊषा ठक्कर की पुस्तक ‘भारतीय समाज में महिलाएँ’ में नारी की विशेष प्रवृत्ति को उद्घाटित किया गया है, “पत्नीत्व और मातृत्व नारी की भूमिकाओं की धूरी है, चूँकि यह भूमिकाएँ अपने में अपूर्ण हैं, इसलिए नारी को अन्य किसी भी विशेषीकृत क्षेत्र यथा ज्ञान, कला नौकरी की आवश्यकता नहीं। एक आदर्श स्त्री, मधुर, विनम्र, स्नेही, सेवाभाव युक्त और समर्पित होती है।”^४ पुरुष और महिला साहित्यकारों ने समान उत्साह से नारी पक्ष को अपनी-अपनी रचनाओं में उद्भूत किया हैं।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में स्त्री ने अनेक उतार-चढ़ाव देखे हैं। एक ओर उसे पूजनीय, ममतामयी, प्रेरणादायिनी कहा गया, तो दूसरी ओर उसे कुलटा, कुलच्छनी, कलंकिनी जैसे विशेषण भी प्रदान किए। “वीरेन्द्रनाथ सिंह”^५ ने अपनी पुस्तक ‘ग्रामीण समाजशास्त्र’ में स्त्रियों की स्थिति को रेखांकित करते हुए लिखा है कि उत्तरवैदिक काल में परिवर्तन आने आरम्भ हो गये। मध्यकाल तक आते-आते स्त्रियों की स्थिति में बदलाव आने शुरू हो गये थे। पर्दा प्रथा को बढ़ावा मिला। बेमेल विवाह की परंपरा जारी रही और सती प्रथा अपने चरम सीमा तक पहुँच गयी। मध्यकाल में स्त्रियों की स्थिति को उद्घाटित करते हुए हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि, “मध्यकाल में स्त्री किसी व्यक्ति या समाज के संगठन की इकाई नहीं

हैं, बल्कि सब प्रकार की विशेषताओं से यथा संभव मुक्त पुरुषसत्तात्मक समाज के लिए विकास का एक उपकरण मात्र है।”^६ सामंती मानसिकताओं के तहत इन स्त्रियों को किसी भी मर्द की कल्पना करना भी पाप था। १९वीं सदी के उत्तरार्द्ध से महिलाओं की सामाजिक स्थिति में सुधार हेतु वैश्विक स्तर पर अनेक आंदोलन किए गए, जिनमें स्वयं, महिलाओं ने अपने अधिकारों के लिए बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद शिक्षित व समक्ष स्त्रियों में बदलाव आया। परिवार व समाज में अपनी भूमिका को लेकर शारीरिक व मानसिक रूप वह संघर्ष करती रहीं। गाँव में भूमिहीन, खेतहारों, मजदूरी करती स्त्रियों का एक बड़ा भाग है। वे कठिन श्रम के बदले बहुत कम मजदूरी पाती हैं। लोकगीतों में श्रम सौंदर्य का गीत इन्हीं से होकर आता है। रोपाई, मड़ाई, कटाई करती, धूप में झुलसती, पानी में भीगती इन स्त्रियों की दुर्दम जिजीविषा को देखा जा सकता है।

इक्कीसवीं सदी के इस दौर में देश जिस गति से चल रहा है, उसमें हमारी प्राकृतिक जिंदगी काफी पीछे छूटती जा रही है। अपने आरम्भिक जीवन में मनुष्य जिस तरह जी रहा था, वह स्वाभाविक और प्राकृतिक दुनियाँ के काफी करीब था। मानवजाति द्वारा तय किये गये सभ्यता के अब तक के पूरे इतिहास की विकास यात्रा में, अभी तक ग्रामीण समाज ज्यादा आत्मीय मालूम पड़ते हैं। “अस्सी के दशक के बाद से गाँवों का चरित्र जितनी तेजी से बदला है। इस बदलाव की पृष्ठभूमि से जुड़े कथाकारों ने अपने कथानुभव का हिस्सा बनाया है। स्त्री जीवन की पराधीनता के यथार्थ और स्वाधीनता की आकांक्षा के लिए संघर्ष की अभिव्यक्ति अनेक रचनाओं में हुई है।”^७ स्त्री को परिवार, समाज के तमाम नियमों का पालन करना उसका कर्तव्य है यदि वह नियमों का पालन नहीं करती हैं तो वह सांस्कारिक नहीं है बदचलन है। ऐसे ही कई महत्वपूर्ण उपन्यास एवं कहानियाँ उद्भूत हैं।

मैत्रेयी पुष्पा के ‘इदन्नमम्’ तथा ‘चाक’ जैसे उपन्यासों में अपने-अपने क्षेत्र के जन-जीवन में आ रहे परिवर्तनों को बारीकी से समझने-बूझने की नई प्रवृत्ति को उद्घाटित किया है। मैत्रेयी पुष्पा का उपन्यास ‘चाक’ में एक विधवा स्त्री की व्यथा कथा है। विधवा होते हुए भी वह यौन स्वतंत्रता चाहती है। वह समाज से यह माँग करती है कि

उसे मात्र स्त्री अर्थात् मनुष्य समझा जाए, देवी या राच्छसी नहीं। उसे भी भूख-प्यास लगती है। तन की भी और मन की भी। भले ही वह विधवा क्यों न हो। केसर सारंग को सुनाती है, 'बीबी वे लोग मुझे देवी बनाते हैं, तो कभी राच्छसी। देवी तो पत्थर की होती है, मैंने कह दिया उसका ठौर मन्दिर में होता है और राच्छसी, लोगों का सत्यानाश करती है। मैं दोनों तरह की नहीं।' ८ गाँव में उच्चवर्ग के लोग गरीब और छोटी जाति की स्त्री के चरित्र पर सबसे पहले और सबसे अधिक आक्रमण होता है। स्त्री से यह अपेक्षा की जाती है कि चाहे कैसी भी परिस्थिति हो वह हमेशा सती सावित्री बनी रहे। अपनी शारीरिक, मानसिक ज़रूरतों, के प्रति निरपेक्ष बनी रहे। ऐसे में स्त्री के भीतर द्वंद्व पनपता है कि वह सती सावित्री बने रहने की ढोंग करे या फिर अपनी ज़रूरतों की पूर्ति के लिए समाज के दायरों को तोड़ दे। इसी द्वंद्व का संचार 'अगनपाँखी' की भुवन के भीतर भी होता है जब उसका विवाह एक पागल से कर दिया जाता है। वह चन्द्र से पूछती है कि, 'मैं कैसी औरत हूँ चन्द्र? औरत अपने पति को भले ही वह कलंकी हो अंधा अपाहिज हो, जनम-जनम तक पाना चाहती हो, मैं उस पागल को झेल पा रही, जो मेरे इस जनम का साथी है। सच्ची में क्या औरतें इतनी पतिव्रता होती हैं? या ढोंग करती हैं?' ९ इक्कीसवीं सदी की ग्रामीण स्त्री अर्थात् कुछ हद तक ये स्त्रियाँ जागरूक एवं सचेत हुई हैं। वह आरोपित और बेमानी सम्बन्धों को तोड़ने की भरपूर कोशिश कर रही हैं और तोड़ भी सकी हैं। व्यक्तिवादी विचारधारा, औद्योगिक क्रांति, जागरण एवं शिक्षा के प्रभाव से स्त्री के काम-संबंधी धारणाओं में परिवर्तन आया है। यौन संबंधों में सामाजिक वर्जनाओं की उपेक्षा करने लगी है। वह किसी भी परिवेश की हो, अब हर तरह की ग्लानि से मुक्त होने की कोशिश करती है।

भगवानदास मोरवाल कृत 'रेत' मेवात अंचल के दूहों बीच बसे छोटे से गाँव गाजूकी को केन्द्र में रखकर काननचारी 'कंजर' जाति 'रेत' आचार-व्यवहार का चित्रण किया गया। इसमें विवाह संस्था को निस्तार बताया गया। "क्या मिलता है ब्याह करके। जिन्दगी-भर खसम और औलाद के साथ-साथ बनी सास-ननदों की चाकरी ही तो करनी पड़ती है। मरी बुआ बनी रहती तो उमर भर मजे करती।" १० इसके लिए मर्द जाति का कोई अर्थ नहीं है, भले ही वह हिन्दू हो

या मुसलमान, जब तक निभाती हैं तक निभाती हैं नहीं तो दोनों अपने-अपने मार्ग ढूँढ़ लेते हैं।

भारतीय संविधान में स्त्री-पुरुष को समान अधिकार प्राप्त हैं, लेकिन कभी-कभी इन अधिकारों में बेमानी सा लगता है। आज भी समाज में स्त्रियों के प्रति दोहरी मानसिकता विद्यमान है। आज भी स्त्री शोषित हो रही है, लेकिन उसके थोड़े मानदंड बदल गये हैं। "लड़कों को ग्राम्य जीवन में भले पड़ी चीज समझा जाता है और उसकी हारी बिमारी चिंतनीय नहीं होती।" ११ स्त्री किसी भी परिवेश में पली-बढ़ी हो, उसके साथ दुर्व्यवहार हो सकता है। विभिन्न वर्ग जाति की होते हुए 'जेंडर' के स्तर पर पूरे संसार में स्त्री का संघर्ष एक-सा है। निम्न एवं दलित जाति की स्त्रियों के शोषण का अन्त नहीं है।

"नाच्यौ बहुत गोपाल' (अमृतलाल नागर) की निर्गुणिया स्त्री जाति वर्ग पीड़ा की साक्षात् अभिव्यक्ति है। उसका सारा जीवन स्त्री जीवन की विवशता को दर्शाता है। उपन्यास की अंत में जब वह कहती है, "मैंने तो नसीब के मार से मेहतरानी बनके यह सीखा बाबू जी कि दुनिया में दो पुराने गुलाम हैं- एक भंगी दूसरी औरत जब तक ये गुलाम है आपको आजादी रुपये में पूरे पैसे भर झूठी है।" १२ वर्तमान दौर में छोटी से छोटी जाति में समीकरण बदलते दिखाई देते हैं। आज निम्न जातियाँ सत्ता में आ रही यह कहना उचित नहीं होगा कि सम्पूर्ण दलित स्त्री के पास सत्ता है या वह सचेत है, लेकिन यह कहा जा सकता है कि वह भी अब अपने अधिकारों को पाना चाह रही है। ग्रामीण समाज की स्त्रियाँ, स्त्री विमर्श की किसी सैद्धांतिकी को नहीं समझती, पर वह पुरुषसत्तात्मक, सामाजिक व्यवस्था से लड़ने में अपनी भूमिका अदा कर रही हैं। ग्राम पंचायतों में महिलाओं को आरक्षण मिलने के बाद से धीरे-धीरे महिलाओं ने अपनी शक्ति कुछ तक पहचानना शुरू कर दिया है। ग्राम पंचायतों के कामों के लिए शकिला बड़े-बड़े अधिकारियों के सम्पर्क में आती है तो पुरुषों में खलबली मच जाती है। 'रामचन्द्र, तो कहा ई दो टका की वीरवाणी अब इतनी मरखणी होगी के बड़ा-बड़ा मुलाजम याहे डर के मारे अपने पे बुलाण लगा है।" १३

लड़कियों की शिक्षा को लेकर लोगों का नजरिया बदला है। पहले यही माना जाता कि लड़की को क्या पढ़ाना-लिखाना जब उसे जीवन भर चूल्हा-चक्की हो

समहालना है लेकिन 'बेनीमाधो तिवारी की पतोह' (मधुकर सिंह) उपन्यास में 'सुनन्दा' बी.ए. की शिक्षा उत्तीर्ण की है। इस उपन्यास में बिहार के बदलते गांवों की तस्वीर अंकित हुई है। विकास की विभिन्न योजनाएँ, बी.डी.ओ. का कार्य प्रखण्ड अधिकारी इत्यादि की भूमिका का यथार्थ चित्रण किया गया है। गाँवों में पंचायत चुनाव से लेकर विधायक चुनाव तक में होने वाली जातीय समीकरणों का व्यौरा और स्त्री शक्ति और दलित शक्ति का नया उभार और इन सभी के बीच पनपते नक्सलवाद, आदि को छोटी-सी कथा के माध्यम से उद्घाटित किया गया है। बेनीमाधो तिवारी की पतोह सुनन्दा गाँव में आ रही जन क्रांति की पुरोचा बनती है, भले ही उस पर नक्सलवादी होने का अभियोग लगता है। सुनन्दा आँगनवाड़ी की सेविका है। सवणों और दलितों में लगातार कशमकश चलता रहता है। सवर्ण सामंत बौखलाएँ हुए नजर आते हैं। वोट के दिन सामंतों की जो स्थिति होती उसका चित्रण करते हुए, "वोट के दिन सालों को उन्हीं के घरों में बन्द कर देंगे। ब्राह्मण टोली को समझाएँगे बन्द करो बेनीमाधो का हुक्का पानी ? उसकी पतोहिया ब्राह्मण कुल कलकिनी है।" १४ सुनन्दा एक तेज-तर्रार और समझदार स्त्री है। पूरे गाँव के हित के बारे में सोचती है और उसके लिए प्रयास भी करती है। इसी 'उपन्यास में रंगीलवा शहर को ही गाँव में ही ले आता है। गाँव में ही वेश्यालय चलता है जबकि शहर में वेश्यालय होते हैं। कहाँ सामंती मानसिकता वाले स्त्री को स्वयं के लिए इस्तेमाल करते थे। अब उन्हें खुद के लिए इस्तेमाल के साथ साथ उन्हें दूसरों को बेच रहा है। इसी संदर्भ में इसका उल्लेख किया गया है - यदु सिंह का बेटा रंगीलवा झोपड़ी में वेश्यालय चलाता है। ज्वार-पथार की गरीब लड़कियों को बहला-फुसलाकर या अपहरण करवाकर लाता है और उन्हें नेपाल, बंगलादेश, दिल्ली, मुम्बई सप्लाई करता है और उनका ब्लू फिल्म और सी.डी. तैयार कर शहरों में बेचता है। यही स्थिति 'रणेन्द्र' की पुस्तक 'ग्लोबल गाँव का देवता' में है - 'खासकर लड़की सियानीमन के सप्लाई में थोड़ा ज्यादा ही इंटरैस्ट लेता था सिंहवा उसके हमारी दलाल घर-घर सूँघा करते। कोई बाहरी जन दलाल थोड़े थे।" १६

भारतीय नवजागरण काल से ही स्त्री दशा में सुधार के आन्दोलनों ने जोर पकड़ा और भारतीय साहित्य में

स्त्री-पक्षधरता में पर्याप्त साहित्य की रचना हुई। गाँव में जो कुछ पहले सार्वजनिक था। वह सब अब निजी संपत्ति बन गया है। इस प्रक्रिया में गरीबों का जीवन पहले से अधिक कठिन हो गया है। भारत के गाँव पर भी भूमण्डलीकरण का प्रभाव बढ़ रहा है। इक्कीसवीं सदी के हिन्दी उपन्यास का गाँव प्रेमचन्द, रेणु, श्रीलाल शुक्ल आदि के गाँव से अलग है। इस सदी के उपन्यास ने गाँव-समाज में हो रहे समाजार्थिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों को विभिन्न रूपों में रेखांकित करने का प्रयास किया है।

संदर्भ सूची

१. पुष्पालाल सिंह, २१वीं शती का हिन्दी उपन्यास, पृ. ११.
२. संपादक- डॉ. रामकठिन सिंह शब्दिता (पत्रिका) लेख: ग्रामीण सद्भाव की दरकती दीवारें (जनवरी-जून, २०१६, ५वाँ अंक), पृ. १९
३. संपा. सुभाषचंद कुशवाहा कथा में गाँव, पृ. ६
४. नीरा देसाई ऊषा ठक्कर, भारतीय समाज में महिलाएँ, (अनु. सुश्री धुसिया), पृ. १
५. वीरेन्द्रनाथ सिंह, ग्रामीण समाजशास्त्र, पृ. ४७.
६. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास, पृ. १७३.
७. पुष्पालाल सिंह, २१वीं शती का हिन्दी उपन्यास, पृ. ११८.
८. मैत्रेयी पुष्पा, चाक, पृ. २१
९. मैत्रेयी पुष्पा, आँगनपाखी, पृ. १०४.
१०. भगवानदास मोरवाल, रेत, पृ. ६३.
११. संपा. रामदरश मिश्र, हिन्दी के आंचलिक उपन्यास, पृ. ४१
१२. अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, पृ. २९.
१३. भगवानदास मोरवाल, बाबल तेरा देस में, पृ. ४८.
१४. मधुकर सिंह, बेनीमाधो तिवारी की पतोह, पृ. ४८
१५. वही, पृ. ८.
१६. रणेन्द्र, ग्लोबल गाँव के देवता, पृ. ३०.

आईना

साहित्य मेघ पत्रिका ने बौद्धिक जगत में स्थान बनाना शुरू कर दिया है। हर अच्छे काम में वक्त अवश्य लगता है। निश्चित ही यह पत्रिका साहित्य के प्रतिमान पर खरी उतरेगी, ऐसा विश्वास ही नहीं अपितु उम्मीद भी है।

आगामी अंकों के लिए बधाई व शुभकामनाएं समस्त संपादकीय परिवार, वितरण व सभी प्रकार से जुड़े व्यक्तियों को।

डॉ लालित्य ललित

राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत
(शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार)
नई दिल्ली

हिंदी की सुंदर मासिक पत्रिका साहित्य मेघ प्राप्त हुई कवर पृष्ठ और अंदर की भी छापाई अति सुंदर है आलेख भी लगभग सभी अच्छे हैं हिंदी गज़ल पर आपकी बहस भी बहुत अच्छी लगी

प्रोफेसर सालेहा रशीद

विभागाध्यक्ष, फारसी एवं अरबी
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयाग

साहित्य मेघ के द्वितीय अंक को देखकर मन प्रफुल्लित हुआ। आप एक साहित्यिक पत्रिका निकालने के लिए जिस लगन के साथ काम कर रहे हैं, वह स्तुत्य है। देशभर में फैले लेखकों से संपर्क करना, उनसे उनकी स्तरीय रचनाएं बुलवाना और उन्हें प्रकाशित करना श्रम साध्य काम है। एक लघु पत्रिका के संपादक के नाते मैं समझ सकता हूँ कि आपको कितनी जद्दोजहद करनी पड़ती होगी। साहित्य मेघ के अंक में जो रचना वैविध्य दिखाई देता है, वह बहुत महत्वपूर्ण है। साहित्य की विभिन्न विधाओं से समृद्ध साहित्य मेघ के हर अंक पठनीय है सभी रचनाकारों का अभिनन्दन है। मैं चाहता हूँ, आप इसी समर्पण भाव से साहित्यिक पत्रकारिता की सेवा करते रहें। साहित्य का मेघ इसी तरह बरसता रहे और रचनात्मक

भूमि को सिंचित करता रहे।

बहुत-बहुत शुभकामनाएं !

गिरीश पंकज, रायपुर

साहित्य मेघ एक स्तरीय पत्रिका लगी। नामचीन नये पुराने साहित्यकारों का स्नेह मिला है इसे। प्रताप सहगल, शशिजी, तेजेंद्र शर्मा से लेकर रजनी मोरवाल तक हैं। स्तरीय और पठनीय सामग्री देने के लिये संपादक को साधुवाद!

उषाकिरण खान

हिंदी में साहित्यिक पत्रिकाओं की संख्या कम नहीं है। सामान्यतया इन्हें लघु पत्रिका कहा जाता है। हालांकि इनका काम लघु नहीं, दीर्घ है। इन्हें लघु पत्रिका संभवतः इसलिए कहा जाता है क्योंकि इनके पीछे कोई बड़ी संस्था, बड़ा धन या बड़ा मठ नहीं होता। सच कहा जाए तो समकालीन साहित्य को यही संभालती हैं, पोषण करती हैं और मंच प्रदान करती हैं। इनका प्रकाशन संपादक की जद्दोजहद का परिणाम होता है। वह रचनाओं के लिए जूझता है, पैसे के लिए जूझता है और अंत में डाक विभाग से भी जूझता है। कुछ पत्रिकाएँ ऐसी भी हैं जो हिंदी साहित्य का कबाड़ा भी कर रही हैं। जो कुछ भी मिल जाए, उसे ही छाप देती हैं और मजे की बात कुछ निजी और सरकारी विज्ञापन भी पा जाती हैं। वरना बहुत से लेखक लघु पत्रिकाओं से ही स्थापित होते हैं।

इसी क्रम में हाल में प्रयागराज से प्रकाशित 'साहित्य मेघ' मासिक पत्रिका से परिचय हुआ। यह परिचय प्रो प्रताप सहगल के माध्यम से हुआ जो इसके परामर्श मण्डल में हैं।

जनवरी २०२२ का अंक मेरे हाथ में है। हालांकि इस पत्रिका का पहला अंक मैं देख रहा हूँ, लेकिन विश्वास के साथ कह रहा हूँ कि यह अंक साहित्यिक दृष्टि से स्तरीय है। एक सौ पृष्ठों के इस अंक में अनेक विधाओं की

रचनाएँ चयनित हैं। लेख, कविताएँ, कहानियाँ, व्यंग्य और समीक्षाएँ इसे बहु आयामी और पठनीय बना रही हैं। कविताओं को लेकर डॉ. श्याम सखा श्याम का लेख 'कविता का अराजक काल' साठोत्तरी कविताओं की सठता को ढंग से लपेटे में लेता है। तमाम अकवियों ने स्वयं को कवि सिद्ध करने के लिए एक समूह बनाया, अकविता का सहारा लिया क्योंकि रस-छंद को साधना उनके बस में रहा नहीं। जो कुछ ऊटपटाँग और अश्लील लिखा उसे जनकविता का नाम देकर कविता को जनता से ही दूर कर दिया। लेखक के इस मंतव्य से असहमत होने का कोई कारण नहीं है।

जहाँ अच्छी रचनाओं के चयन और प्रकाशन के लिए संपादक मण्डल की दृष्टि प्रशंसनीय है, वहीं बड़ी संख्या में प्रूफ की गलतियाँ, खासकर फॉन्ट चेंज और विराम चिह्नों की, बहुत खटकती हैं। साहित्यिक पत्रिका के लिए ऐसी गलतियाँ ज्यादा अनुचित होती हैं। साहित्य से ही लोग उन्नत भाषा सीखते हैं, इसलिए हमारे प्रयास अनुकरणीय होने चाहिए।

फिर भी, रचनाओं के सजग चयन के लिए मैं संपादक मण्डल को बधाई देता हूँ।

हरिशंकर राठी

सहसंपादक - समकालीन अभिव्यक्ति

डॉ साहिब बधाई अच्छे साहित्यिक अंक हेतु दुआगो हूँ की यह सफ़र उज्ज्वल व दीर्घ हो आभार मेरा लेख-कविता में अराजक काल को स्थान देने के लिए। एक लेख आज ही लिखा है - क्षमा शब्द का पोस्ट मार्टम नजर डालें पसंद आ जाए तो उपयोग में ले सकते हैं। अपनी स्वीकृति अस्वीकृति से अवगत करवाएँ जिससे आगे हेतु विचार करूँ

श्याम सखा

शोक गीत ऐसी विद्या है जो मनाव मन के गहराइयों को समग्रता में व्यक्त करता है। मैं समझती हूँ कि हर स्त्री का अपना एक शोक गीत होता ही है। गुरुवर चंद्रदेव यादव द्वारा विरचित शोक गीत ने हमारे मर्म को छुआ है। एवं उस चेतना को उत्प्रेरित करता है जो मेरे स्त्री मन के अंतस्थल में कहीं दुबका हुआ है। ग्रामीण सरोकारों ने

लेखक के अनुभूतियों को मार्मिकता दी है। अभिनव की रिपोर्टिंग इस विषय पर सराहनीय है। इस शोक गीत की पठनीयता समुद्र किनारे मलाईदार नारियल पानी पीने जैसा तृप्ति दायक है। अंत में इतना ही कि यह शोक गीत मन को हर्षित और विरचित दोनों ही करता है।

डॉ तबस्सुम जहां

एलेजी (शोक गीत) लिखने की परंपरा हिंदी में ज्यादा समृद्ध नहीं है। 'सरोज समृति' जैसे कुछ नाम ही प्रमुखता से लिए जाते हैं। लोक साहित्य में इसकी समृद्ध परंपरा विद्यमान रही है। चंद्रदेव यादव सर ने शोक गीत लिखकर हिंदी में इस विद्या को समृद्ध किया है। उनके शोकगीत में ग्राम संस्कृति की झलक में कुछ नयापन तो नहीं है लेकिन ताज़गी अवश्य है। आलोचक ने इसे प्रेमचंद की परंपरा का कह कर इसे एक परिधि तक सीमित करने का प्रयास किया है। इसमें जो आकुलता है, हृदय का क्रंदन है, सामान्य मानव मन की जो चिरंतन वेदना ध्वनित होती है वह सराहनीय है। लेखन रुचिकर है। कहीं-कहीं भावों के उच्छ्वास ने लय को तोड़कर मन को उबाया जरूर है लेकिन कौतूहल को बनाये रखा है। एलेजी कि यह विशेषता होती है कि इसमें आद्योपांत एक कहानी मौजूद होती है जो यहां देखी जा सकती है। हृदय तंतु को जोड़ने वाली संवेदना एवं मानस पटल का उक्त द्वन्द्व इस गीत को शोक गीत की श्रेणी में खड़ा कर देता

रवि रंजन कुमार ठाकुर

८३८४०४९४९७

साहित्य मेघ पत्रिका सन् २०२२ के दूसरे अंक पर कुछ शब्द

प्रो.उल्फत मुहीबोवा

इस पत्रिका से मेरा परिचय इसी सन् २०२२ को हुआ, जब से मुझे संपादक ग्रुप में शामिल किया

गया। पत्रिका के दूसरे अंक पर दो शब्द बोलने की इच्छा है।

सब से पहला लेख प्रेम जनमेजय जी की “चिंगारी होने की आजादी” नाम से छपा है।

लेख मुझे बहुत ही अच्छा लगा। थोड़े से साधारण शब्दों में काफी बड़ी समस्या को उठाना हर

किसी के बस का काम नहीं है। लेख को दांत में हो रहे दर्द से शुरु करके भारत की आजादी

की समस्या से इतना अच्छा जोड़कर आगे बढ़ाते हैं कि पढ़ने वाले को उनका काफी गहरा विचार जल्दी समझ में आ जाता है।

निर्मला गर्ग जी की छोटी-छोटी कविताएं भी पाठक का ध्यान खींचने वाली हैं। उनमें

कवयित्री समाज के भिन्न विषयों को लेकर बहुत सरल भाषा में अपने विचारों को प्रकट करती

हैं। विशेष तौर पर “धरती खुलती है नया अल्बम” नाम पे लिखी कविता पाठक के सामने बिल्कुल अलग विषय को लेकर अलग सी शैली में प्रस्तुत करके पढ़ने वाले के तसव्वुर में नया

आलम खुलता है। कविता काफी छोटी है पर बड़ी दार्शनिक है।

उषाकिरण खान के गांधी जी और स्त्रियों से संबंध लेख सच में औरत को, स्त्री को गांधी

जी की नज़र से देखके उन में अपनी विचारधाराएं मिलाके लिखा गया है जिसमें उनका मत गांधी जी की मत से मिलना अच्छी तरह नजर आता है। सब को एक दूसरे को समान, बराबर

मानना गांधी जी के विचार धारा का मुख्य पक्ष था। लेख में इसी पर जोर दिया गया है।

शंभुनाथ जी के “हिंदी की आत्मपहचान” विषय पर छोटा लेख में भी भारत की काफी बड़ी

आध्यात्मिक समस्या को उठाया गया है। बिल्कुल सरल शब्दों में लिखे उनके लेख का मुझ पर

बड़ा प्रभाव पड़ा। हिंदी भाषा और साहित्य को विदेश में पढ़ाने वाले एक अध्यापक की नजर में

हमें भी लगता है कि हिंदी की आत्मपहचान सच में सिर्फ रामायण, महाभारत, भक्ति साहित्य,

२०वीं सदी के प्रेमचंद, कृष्ण चंद्र और अन्य लेखकों, द्विवेदी, मेनेजर पांडेय, नामवर सिंह, केदार

नाथ सिंह जैसे साहित्यकारों के नाम और काम से जाना जाता है जिन्होंने, हमारी नजर में, हिंदी

की आत्मपहचान को संभालने की सेवा की हैं।

इस अंक में और कई राचनाकारों और साहित्यकारों की कहानी, लेख तथा कविताएं पढ़ने को मिलती हैं जिनको पढ़के हिंदी भाषा और साहित्य का २१वीं सदी की स्थिति

पहचानने के लिये मौका मिलता है। सब में पाठकों का ध्यान खींचने वाले अलग अलग विषय, अलग अलग

विचारधाराएं तथा शैली हैं।

हम साहित्य मेघ पत्रिका में काम करने वाले, इसमें अपनी

रचना, कविता और लेख छापने वालों के हर काम के लिये अपनी शुभकामनाओं की कामना करते हैं।



प्रो. उल्फत मुहीबोवा

ताश्कंद राजकीय प्राच्य विद्या विश्वविद्यालय,

ताश्कंद, उज़्बेकिस्तान

मार्च, २०२२

प्रकाशक, मुद्रक और मालिक डॉ. मो. सलीम ने अज़ीम इंडिया प्रिंटर्स, ४८३ अटाला, प्रयागराज (इलाहाबाद) में छपा कर ४८३ अटाला, प्रयागराज (इलाहाबाद) से प्रकाशित किया।

सम्पादक डॉ. मो. सलीम, ४८३ अटाला, प्रयागराज (इलाहाबाद)

सम्पादक के अतिरिक्त सभी पद अवैतानिक और परिवर्तनशील हैं। लेखक व कवि इत्यादि सभी अपनी प्रत्येक पंक्ति के लिये स्वयं उत्तरदायी हैं। सभी मामले प्रयागराज (इलाहाबाद) की ही अदालत में होंगे।